कबीर-साहित्य और सिद्धान्त की रचना मैंने विशेष रूप से विद्यार्थियों के लिए की है और जहाँ तक प्रयत्न बन पड़ा है संक्षेप-से-संक्षेप में कबीर के व्यक्ति, सिद्धान्त और साहित्य के विषय में सभी विषयों को छूने का प्रयत्न किया है। पुस्तक पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इसे देखकर वह स्वयं ही अन्दाज लगा सकते हैं कि यह कहाँ तक उनका पथ-प्रदर्शन कर सकती है या उनके अध्ययन में सहायता दे सकती है।

मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक में कबीर-विषयक सभी ज्ञातव्य बातों को बहुत ही सूक्ष्म में कहा गया है। कबीर-साहित्य का अध्ययन करने की इच्छा रखने वाला जिज्ञासु यदि पहले एक दृष्टि से इस पुस्तक को देख लेगा तो उसे कबीर के ग्रन्थों को पढ़ने में बहुत सहायता मिलेगी। कबीर के विषय में उसकी कोई भी जानकारी ऐसी नहीं रहजायगी कि जिसके लिए वह अपने को अपरिचित अनुभव कर सके। बस इसी उद्देश्य से यह पुस्तक मैंने लिखी है।

दिल्ली
२०-११ ५३

यज्ञदत्त शर्मा

विषय-सूची

अध्याय ७.

कबीर की आध्यात्मिक मान्यताएँ : ९४-११५

अध्याय ८.

कबीर की धार्मिक और सामाजिक विचार-धारा : ११६-१३०

अध्याय ६.

कबीर का मूल्यांकन : १३१-१४१

अध्याय १०.

कबीर-साहित्य की परम्परा : १४२-१५४

कबीर-साहित्य और सिद्धान्त

अध्याय १

कबीर की जीवनी

महाकवि कबीर के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालने के लिए हम उनके साहित्य में उपलब्ध अन्तः साक्ष्य और अन्य ग्रंथों में मिलने वाले बाह्य साक्ष्य प्रमाणों का आश्रय लेकर चलेंगे। जहाँ तक अन्तः साक्ष्य का सम्बन्ध है वहाँ तक हमें बहुत कम सामग्री उपलब्ध होती है। इसका प्रधान कारण यही है कि आत्म-विज्ञापन करना इस महाकवि की प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध ही था। कबीर ने कभी भी इसकी आवश्यकता का अनुभव नहीं किया और इसीलिए इनके साहित्य से यत्र-तत्र केवल उनकी जाति और नाम के अतिरिक्त और किसी भी तथ्य पर प्रकाश नहीं पड़ता। नाम और जाति के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष रूप से कहीं-कहीं उनके साहित्य में कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं। इसीलिए कबीर के सम्बन्ध में कुछ लिखने के लिए केवल उन्हीं पर अपने ज्ञान को आधारित कर लेना होता है।

इस प्रकार कबीर का जीवन इतिहास स्वरूप न आकर कुछ घटनाओं, किंवदंतियों और यत्र-तत्र उल्लेखों के रूप में आंशिक ही हमारे सम्मुख आता है; जिसे हम किसी भी रूप में तर्क सम्मत जीवनचरित्र की रूपरेखा नहीं बना सकते। कबीर-पंथ की संत-परम्परा में कबीरदास जी के विषय में अनेकों कथाएँ प्रचलित हैं; परन्तु इन कथाओं में से खोजकर तथ्य को निकाल लेना साधारण कार्य नहीं। यह कथाएँ उन भक्तों द्वारा प्रचलित की गई हैं कि जिन्होंने यदि भक्त और विशेष रूप से अपने गुरु को भगवान् से ऊँचा नहीं माना है तो कम-से-कम उससे नीचा स्थान भी वह नहीं दे सके हैं। इन कथाओं में भावना के वह रंगीन स्वप्न देखने को मिलते हैं कि जिनके रंग छाँटकर उनमें से रेखाओं को खोजना बहुत कठिन कार्य है। इसीलिए जब हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कबीरदास जी के जीवन-वृत्त की खोज करते हैं तो यह कथाएँ कुछ विशेष सहायक सिद्ध नहीं होतीं।

ज़बीर-चरित्र-बोध' और 'कबीर-कसौटी' कबीर पंथ की दो प्रधान पुस्तकें हैं
र के जीवनचरित्र पर प्रकाश डालती हैं। इनके अतिरिक्त 'भक्तमाल'
ास कृत), 'भक्तमाल की टीका' (प्रियदास कृत), 'कबीर' (अनन्तदास कृत)
क्तमाल'(रघुराजसिंह कृत) द्वारा भी कबीरदास जी के जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता
ास और पीपा की 'परचइयाँ' में भी कुछ अंश ऐसे हैं जहाँ से कुछ उपयोगी
उपलब्ध हो जाती है। इन पुस्तकों के अतिरिक्त इस काल के अन्य कवियों
ायों में भी यत्र-तत्र कबीरदास जी के नाम का उल्लेख मिलता है। इस दिशा
तुकाराम, पीपा, रैदास, गरीबदास, नानक इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।
न उल्लेखों से कबीर के नाम-मात्र की ओर दृष्टि भर जाती है, उनके जीवन-
ो किसी तथ्य का उद्घाटन नहीं होता।

अंतः साक्ष्य, संत-साहित्य, किंवदंतियाँ तथा इस काल की अन्य संत-पुस्तकों
ीवनियों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे साधन भी हैं जो कबीरदास जी के
पर प्रकाश डालते हैं। इन साधनों में 'आईने अकबरी' (अबुलफजल कृत)
ानीय है। 'दबिस्ताँ' (मोहसिन फ़ानी कृत) तथा 'खजीनतुल आसफ़िया' (मोह-
ानी कृत) द्वारा भी कबीर के जीवन-तथ्यों का उद्घाटन होता है। इस प्रकार
म्न लिखित कबीरदास जी की जीवन-सम्बंधी घटनाओं पर उक्त साधनों के
त प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

नीचे हम कबीरदास जी की जीवन-विषयक निम्नलिखित प्रधान बातों का
ाधनों के आधार पर स्पष्टीकरण करते हैं —

१. कबीर की जन्म और मृत्यु की तिथियाँ।
२. कबीर का नाम।
३. कबीर की जाति और जन्म तथा मृत्यु के स्थान।
४. कबीर का परिवार।
५. कबीर का गुरु।
६. कबीर का पर्यटन।
७. कबीर की शिष्य-परम्परा।
८. कबीर के जीवन की अन्य प्रसिद्ध घटनाएँ।

कबीर की जन्म और मृत्यु की तिथियाँ

कबीर के जीवन-काल के विषय में विद्वानों में बहुत बड़ा मतभेद पाया जाता
ास विषय में श्री पुरुषोत्तमलाल जी ने अपनी पुस्तक 'कबीर साहित्य का अध्य-

यन' में एक चार्ट[1] दिया है। इस विषय की जानकारी के लिए यह चार्ट बहुत लाभदायक है।

कबीर की जन्म-तिथि अधिकतर विद्वान सं० १४५५ ही मानते हैं। इस जन्म-तिथि की पुष्टि में एक पद्य[2] प्रचलित है। इस पद्य में वर्ष, मास, और तिथि का जो उल्लेख किया गया है वह गणना के अनुसार ठीक निकलता है। इस संवत् का न तो इतिहास से ही विरोध है और न अन्त: साक्ष्य से ही यह अशुद्ध ठहरता है। परन्तु कबीर की बानी में कहीं इसके विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। 'कबीर-कसौटी' तथा 'कबीर-चरित्र-बोध' के अनुसार कबीर का जन्म सं० १४५५ को ज्येष्ठ की पूर्णिमा, सोमवार के दिन हुआ था।

कबीर का जन्म संवत् १४५५ मानने में मिस्टर वेस्टकाट[3] को संकोच है। उनका मत है कि कबीर के काल को रामानंद के काल तक खींचकर केवल इसलिए ले जाया गया है कि उनका रामानन्द जी का शिष्य होने का उल्लेख मिलता है।

कबीरदास जी की मृत्यु संवत् १५७५ मानने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं। डा० एफ० ई० के का विचार भी कुछ-कुछ मिस्टर वेस्टकाट के विचार से मिलता-

---

१.

लेखक	वि० सं०	ई० सन्	आयु
वेस्टकाट	? —१५७५	? —१५१८	×
डा० एफ० ई० के	१४९७—१५७५	१४४०—१५१८	७८ वर्ष
हरिऔध और मिश्रबंधु	१४५५—१५५२	१३९८—१४९५	९७ वर्ष
श्यामसुन्दरदास, राम।			
चन्द्र शुक्ल	१४५६—१५७५	१३९९—१५१८	११९ वर्ष
मेकालिफ, भंडारकर	१४५५—१५७५	१३९८—१५१८	११९ वर्ष, ५ मास, २७ दिन
सेन	१४५५—१५०५	१३९८—१४४८	५० वर्ष
बड़थ्वाल	१४२७—१५०५	१३७०—१४४८	७८ वर्ष
रामकुमार वर्मा	१४५५—१५५१	१३९८—१४९४	९७ वर्ष

—(कबीर साहित्य का अध्ययन। पृ० ३१९)

२. चौदह सै पचपन साल गए चन्द्रवार एक ठाट नए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥
घन गरजे दामिनि दमके बूँदें बरसें झर लाग गए।
लहर तालाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु परकास भए॥

3. Kabir and Kabir Panth by Westcott.

जुलता ही है। परन्तु कबीर को केवल रामानन्द जी का शिष्य स्वीकार न करने के लिए ही उनका जन्म संवत् १४५५ न मानना भी इन महानुभाव की हठ ही प्रतीत होती है। डा० श्याम सुन्दरदास जी 'चौदह सौ पचपन साल गए' का अर्थ लगाते हैं 'सं० १४५५ व्यतीत होने पर' अर्थात् सं० १४५६। उक्त विद्वानों के अतिरिक्त कबीर की जन्म-तिथि बील सं० १५४७[1] फर्कुहार सं० १४९७[2] डा० हन्टर सं० १३५७, तथा[3] अन्टर हिल और स्मिथ सं० १४९७ मानते हैं।[4]

हम कबीरदास जी की परम्परागत जन्मतिथि सं० १४५५ को ही पुनर्गणना से ठीक मानते हैं।

कबीरदास जी की मृत्यु-सम्बन्धी दो तिथियाँ उपलब्ध हैं, एक सं० १५०५ और दूसरी सं० १५७५। इन दोनों तिथियों में कौन प्रामाणिक है इसका निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं; कुछ घटनाओं के आधार पर ही इसके विषय में हम निर्णय कर सकते हैं। कबीर का जीवनचरित लिखने वाले सभी भक्त जनों ने सिकन्दर लोदी द्वारा काशी में कबीरदास को दण्डित करने का वृतान्त लिखा है। कबीरदास के कुछ पदों में भी इस विषय में संकेत मिलता है। परंतु कहीं पर भी कबीरदासजी ने सिकंदर लोदी के नाम का उल्लेख नहीं किया। सिकंदर लोदी का शासन-काल संवत् १५४५ से सं० १५७५ तक माना जाता है। सम्भवतः संवत् १५५३ में वह काशी गए थे। इसलिए कबीरदास जी का संवत् १५५३ तक जीवित रहना सिद्ध होता है और उनकी मृत्यु-तिथि सं० १५०५ मान्य नहीं हो सकती।

कबीरदास की मृत्यु-तिथि सं० १५०५ मानने वाले मत का समर्थन डा० फ्यूरर के लेख से होता है जिसका आधार उन्होंने नवाब बिजली खाँ द्वारा सं० १५०५ में आमी नदी के किनारे बस्ती जिले में बनाये गये कबीरदास के रौजे को माना है। परन्तु डा० श्याम सुन्दर दास जी इस उल्लेख को प्रामाणिक नहीं मानते। बहुत से अन्य विद्वानों का मत भी श्याम सुन्दरदासजी से ही मिलता-जुलता है।

दूसरी तिथि सं० १५७५ की पुष्टि में हमारे पास बहुत सी बातें हैं। कबीर दास जी की आयु अनन्तदास ने १२० वर्ष मानी है। इस विचार से कबीरदासजी

---

१. An Oriental Biographical Dictionary by Thomas William Beal, London (1844), p. 204.
२. An Outline of Religious Life of India, by T.N. Farquahar.
३. Indian Empire by Dr. Hunter. Chapter VIII
४. The Oxford History of India by Smith, p. 261

की जन्म-तिथि सं० १४५५ मान लेने पर मृत्यु-तिथि ठीक १५७५ निश्चित हो जाती है। कबीरदास जैसे योगी की आयु १२० वर्ष मानलेने में भ्रम करना कुछ युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता, जब कि आज के युग में भी ११० वर्ष के बूढे व्यक्ति भारत में मौजूद हैं।

हम कबीरदासजी की मृत्यु-तिथि सं० १५७५ ही प्रामाणिक मानते हैं। कबीर पंथियों में इस विषय में एक दोहा भी प्रचलित है।[1]

कबीर का नाम

महाकवि कबीर के नाम के विषय में भ्रम का कोई कारण हमें प्रतीत नही होता। कबीर नाम सर्वमान्य है। क्या अंतः साक्ष्य और क्या बहिर साक्ष्य, सभी जगह हमें कबीर नाम का ही प्रयोग मिलता है। भक्तों की रचनाओं में, ऐतिहासिक उल्लेखों में, स्वयँ कबीर की रचनाओं में तथा किंवदंतियों में—सभी स्थानों पर 'कबीर' नाम को ही अपनाया गया है। परन्तु 'कबीर' शब्द के साथ 'साहब' और 'दास' का प्रयोग कहीं-कहीं पर किया गया है। इसके विषय में पाठकों को यहाँ इतना ही जानलेना आवश्यक है कि 'साहब' शब्द का प्रयोग प्रक्षित है और इसका प्रयोग भक्त लोगों ने अपने गुरु को आदर देने के लिए किया होगा। कबीरदासजी ने स्वयँ अपने लिए 'साहब' शब्द का प्रयोग किया होगा यह युक्ति-संगत नहीं ठहरता। उन्होंने तो अपने लिए 'दास' शब्द का ही प्रयोग किया होगा। यों साधारणतया कबीर ने केवल 'कबीर' शब्द का ही अपनी रचनाओं में प्रयोग किया है, परन्तु यत्र-तत्र 'दास' का प्रयोग भी मिलता है।[2] कबीर दास जी ने अपने लिए अधिकांश स्थानों पर 'कबिरा' नाम का भी प्रयोग किया है। इस प्रकार जहाँ तक नाम का सम्बन्ध है हमें अधिक भ्रामक सामग्री इस विषय में नहीं मिलती और कवि का नाम 'कबीर' ही सर्वमान्य तथा स्पष्ट है।

कबीर की जाति, जन्म तथा मृत्यु के स्थान

जिस प्रकार कबीरदासजी के नाम के विषय में कोई संदिग्ध या भ्रामक विचार नहीं है उसी प्रकार उनकी जाति के विषय में भी हमें दो मत नहीं मिलते। कबीर

---

१. (१) सम्वत् पंद्रह सै पछत्तर, कियो मगहर गौन।
माघसुदी एकादशी, रहौ पवन में पौन॥

२. (१) दास जुलाहा नाम कबीरा, बनि-बनि फिरों उदासी।
—(बानी, प० २७०)

(२) दास कबीर चढ़े गज ऊपरि राज दियौ अविनासी। —(वही)

(३) सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥ —(साखी)

दास जी जाति के जुलाहे थे। इसका उल्लेख उनकी रचनाओं में अनेक स्थानों पर पाया जाता है।[1] एक दो पदों में कबीरदास ने अपने को 'कोरी'[2] और 'बनजारा' भी कहा है। 'कोरी' और जुलाहे में कोई अन्तर नहीं है। जुलाहा मुसलमान और कोरी हिंदू होता है। कबीर ने इस प्रकार दोनों शब्दों का अपने लिए प्रयोग करके जाति-भेद का खंडन किया है। बनजारा शब्द का प्रयोग कबीर ने उस जुलाहे के लिए किया है जो आस-पास के बाज़ार में अपना बुना कपड़ा बेचने भी जाता है। इस प्रकार के रूपकों में आपने व्यापारी के रूप का चित्रण किया है।

कबीरदासजी ने यह स्पष्ट करने में संकोच नहीं किया कि उनकी जाति जुलाहा उस समय एक बहुत ही नीची जाति मानी जाती थी और इसी लिए आपने अपने लिए 'कमीना'[3] शब्द का प्रयोग किया है। कबीरदासजी ने अपने को कमीन कहकर अपने अन्दर हीनता का अनुभव नहीं किया, बल्कि व्यंग्य ही कसा है अपने को ऊँचा कहने वाले तिलकधारी पंडितों पर। कबीर मानवतावादी महापुरुष थे जिनके निकट जाति-भेद का कोई महत्व नहीं था।

कबीर के विचारों में हिंदू और सूफ़ी मुसलमानों के विचारों का समन्वय मिलता है। इसीलिए कुछ विचारक उन्हें जन्म का हिन्दू भी मानते हैं। कहा जाता है कि वह ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर एक जुलाहे के परिवार में पाले गये। मिस्टर वेस्टकॉट ने उन्हें जन्म से ही मुसलमान माना है। डा० बड़थ्वाल ने उनपर योग-मार्ग का प्रभाव मान कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वह पहिले कोरी (हिन्दू जुलाहे) थे और फिर जुलाहे (मुसलमान जुलाहे) बने। आपने इनपर गुरु गोरखनाथ का स्पष्ट प्रभाव माना है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी आपको नवधर्मान्तरित जुलाहा जाति से मानते हैं। नाथ पंथियों का आप पर प्रभाव था।

---

१. (१) जाति जुलाहा मति कौ धीर। हरषि-हरषि गुन रमै कबीर।
—(बा० पृष्ठ १२४)
(२) तू ब्राह्मन मैं काशी का जुलाहा। —(बा० प० २५०)
(३) सरगलोक से क्या दुःख पड़िया तुम आई कलिमाही।
जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहु पतीजो नाहीं॥
(४) जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि-बनि फिरौं उदासी।
२. (१) हरि को नाम अभै पद दाता कहै कबीरा कोरी—(वही पद २४६)
३. (१) जहाँ जाहु तहाँ पाट-पटम्बर अगर चन्दन घसि लीना।
आई हमारे कहा करोगी हम तौ जाति कमीना॥
—(क० ग्र० पद २७० इत्यादि)

डा० हजारी प्रसादजी का मत इस दिशा में हमें अधिक पुष्ट प्रतीत होता है कि कबीरदासजी का जन्म जोगी-जाति मे ही हुआ होगा परन्तु उन पर भक्ति मार्ग का प्रभाव भी प्रारम्भिक काल से ही मिलता है।

कबीर के माता पिता का ज्ञान प्राप्त करने में यदि हम रैदास और अनन्तदास तथा अन्य संतों पर अपने ज्ञान को आधारित करते हैं तो हमे उन्हे मुसलमान[1] ही मानना होता है। परन्तु स्वयँ कबीर की रचनाओं में अनेकों स्थानों पर उनका मुसलमान कुल में केवल पालित होने का ही आभास मिलता है।

कबीरदासजी के जन्म-स्थान[2] के विषय में हमें अन्तःसाक्ष से काफी प्रमाण मिलते हैं और उसके पश्चात् भी वह कहाँ-कहाँ रहे[3] इसका भी संकेत मिलता है। कबीर दास जी की मृत्यु मगहर[4] में हुई यह भी अतः साक्ष से स्पष्ट है।

कबीर का परिवार

कबीर के परिवार में उनकी जीवनियों के आधार पर उनके अतिरिक्त पाँच अन्त प्राणी माने जाते हैं। उनके पिता का नाम नूरी था, माता का नाम नीमा,

---

१. जाकै ईद बकरीद कुल गऊ रे बधु करहि मानियहि सेख सहीद पीरा।
जाके बाप वैसी करी पूत ऐसी सरी तिहु रे लोक परसिध कबीरा॥
जाके कुटुम्ब के ढेढ़ सब ढोर ढोवत फिरहिं अजहु बनारसी आसपासा।
अचार सहित विप्र करहिं डंडउति तिनि तनै रविदास दासानुदासा॥
—(रैदास)

२. काशी में हम प्रकट भये हैं, रामानन्द चिताये।

३. (१) मानिकपुरहिं कबीर बसेरा, महति सुनी शेख तकि केरा।
(२) तू बांमन मैं कासी का जुलाहा, चीन्ह न मोर गियाना।
—(बा० प० २५० तथा सं० क०, आ० २६)

४. (१) का कासी का मगहर ऊसर हृदय राम बस मोरा।
जो कासी तन तजई कबीरा रामहि कौन निहोरा॥
—(बी० श० १०३)
(२) सगल जनमु सिवपुरी गवाइआ। मरती बार मगहरि उठि आइआ।
बहुत बरस तप कीआ कासी। मरनु भइआ मगहर की बासी॥
—(सं० क०, ग० १५)
(३) जस कासी तस मगहर ऊसर हिरदै राम सति होई।
—(बा० प० ४०२)
(४) जैसा मगहर तैसी कासी हम एकै करि जानी।
—(सं० बा० राम० ३)
(५) पहिले दरसन कासी पायो पुनि मगहर बसे आई।

पत्नी या शिष्या का नाम लोई, सन्तान या शिष्य-शिष्या के नाम कमाल और कमाली थे। माता पिता का उल्लेख साम्प्रदायिक कथाओं में बहुत कम है। पिता का उल्लेख केवल उस समय आता है जब वह तालाब से कबीर को उठाकर अपने घर लाते हैं और माता के विषय में यह उल्लेख मिलता है कि वह कबीर से सर्वदा रुष्ट रहती थीं। कबीर की बानियों में दोनों के ही विषय मे कोई उल्लेख नहीं मिलता। जिन पदों में कुछ उल्लेख सा जान भी पडता है वह भ्रामक ही है; क्योंकि जब पद को आध्यात्मिक अर्थ की कसौटी पर कसने का प्रश्न उठता है तो वहाँ माता पिता का भ्रम एक दम लुप्त हो जाता है। माई शब्द का उन्होंने जहाँ भी प्रयोग किया है वह माया के लिए उपयुक्त ठहरता है, परन्तु यह असम्भव नही कि कहीं-कहीं पर उनकी कविता में गौण रूप से लौकिक पक्ष भी उभर आया हो। कबीर ने आध्यात्मिक प्रचार का कार्य ग्रहण करके निश्चित रूप से ताना बुनना छोड़ दिया होगा और इससे उनके परिवार की आशाओं पर भी तुषारापात हुआ होगा। उसी का चित्रण कवि अपने पद[1] में करता है। यहाँ भी माई का अर्थ माया के रूप में सरलतापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है; परन्तु इससे माता का भी आभास मिलता है। इस प्रकार आपकी कविता में यत्र-तत्र माता के विषय में संकेत मिलता है।

कबीर की स्त्री और बच्चों का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक कबीर-पंथी लोग उन्हें अविवाहित ही मानते हैं। इसलिए साम्प्रदायिक विचार से इसका प्रश्न उठता ही नहीं, परन्तु ग्रंथ साहब में एक दोहा[2] मिलता है जिसके आधार पर यह अनुमान करना कठिन है कि कबीरदास जी अविवाहित थे और उनके कोई सन्तान नहीं थी। इस दोहे से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब उनके पुत्र था तो निश्चित रूप से उनकी स्त्री कमाली भी रही होगी। कमाली नाम का उल्लेख हमें उनकी बानी में नहीं मिलता परंतु नाम न मिलना यह संकेत नहीं करता कि उनकी स्त्री नहीं थी। कबीर के पदों में लोई शब्द का प्रयोग मिलता है और सम्भवतः यही नाम धारिणी कबीर की स्त्री थी। परन्तु कुछ विद्वानों ने खोज कर लोई का अर्थ 'लोग' या 'कम्बल' किया है और जहाँ-जहाँ भी कबीर ने लोई शब्द का प्रयोग किया है वहीं-वहीं पर इन अर्थों का समावेश करके देखने पर यह अर्थ ठीक बैठता है। इस लिए लोई

---

१. तनना बुनना तज्या कबीर, राम नाम लिखि लिया सरीर।
जब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै राम सनेह॥
ठाढ़ी रोवै कबीर की माई, ए लरिका क्यूँ जीवैं खुदाई।
कहहिं कबीर सुनहु री माई, पूरनहारा त्रिभुवन राई॥
—(बा० प० २१)

२. बूड़ा बंस कबीर का, उपजिओ पूत कमालु। —(सं० क०, स० ११९

सत्संगों का कबीरदास जी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उन्होंने उन सभी मुसलमान संतों से अपना ही मत मानने[१] के लिए अनुरोध किया है। कबीरदासजी का रामानंद से दीक्षित होना उनकी ही साखियों[२] से प्रमाणित होता है। साधारणतया रामानंदजी की मृत्यु सं०१४६७ वि० में मानी जाती है। इस हिसाब से इनकी मृत्यु के समय कबीरदासजी की आयु केवल ११-१२ वर्ष की ठहरती है और इतनी कम अवस्था में कबीरदास जी का रामानंद जी से दीक्षा लेना कुछ युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। यहाँ हमें रामानंद जी के मृत्यु-संवत् पर तनिक विचार करना होगा। श्री पुरुषोत्तम लाल जी इस विषय में लिखते हैं, "रामानंद जी श्री रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में थे। कुछ लोगों ने उन्हें उनकी पाँचवीं पीढ़ी में और कुछ ने चौदहवीं पीढ़ी में माना है। रामानुजाचार्य की मृत्यु सं० ११६४ वि० में हुई। यदि रामानंदजी की मृत्यु सं० १४६७ में मानी जाय तो दोनों की मृत्यु के बीच २७३ वर्ष का अंतर पड़ता है। चार पीढ़ियों में इतना समय (औसत ६६ वर्ष) व्यतीत होना सम्भव नहीं जान पड़ता। इसके लिए अधिक से अधिक १२० वर्ष पर्याप्त हैं। इस हिसाब से रामानंद जी की मृत्यु लगभग १३१३ वि० में ठहरती है। और यदि उन्हें चौदहवीं पीढ़ी में मानें तथा प्रत्येक पीढ़ी के लिए २५ वर्ष औसत रखलें, तो लगभग १५१६ वि० (११६४+३२५=१५१६) तक उनका रहना निश्चित होता है। ये दोनों ही समय—सं० १५१६ और सं १४६७ से बहुत दूर हैं। अब हम देखें कि इनमें किसके सत्य होने की सम्भावना अधिक है।

कबीर के परचई-लेखक अनन्तदास स्वामी रामानंद जी की ही शिष्य-परम्परा में हो गए हैं, इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है। पीपा की परचई में उन्होंने लिखा है —

---

१. शेख अकरदीं तुम मानहु वचन हमार।
आदि अन्त औ जुग-जुग देखहु दीठि पसार॥

२. (१) कबीर रामानन्द का, सतगुरु मिले सहाय।
जग में जुगति अनूप है, सोई दई बताय॥—(दो० ६)

(२) भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द।
कबीर ने परगट करी, सात दीप नव खंड॥—(सा० ग्र०, पृ० १०७, दो० १)

(३) सतगुरु के परताप ते, मिटि गए दुख द्वन्द।
कहैं कबीर द्विधा मिटी, जब (गुरु) मिलिया रामानन्द॥
—(दो० ६)

रामानन्द के अनन्तानन्दू । सदा प्रगट ज्यो पूरन चन्दू ॥
ताको अगर आगरें प्रेमू । लै निवह्यौ सुमिरन कीने ॥
अगर की सीख विनोदी पाई । ताकौ दास अनंतहि आई ॥

इसमें प्रति लिपिकार की भूल से अवश्य एक चौपाई बीच में छूट गई है, क्योंकि यह अत्यन्त प्रसिद्ध बात है कि अनन्तानन्द के शिष्य कृष्णदास पयहारी (गलतॉवाले) थे जो अग्रदास जी के गुरु थे। इस प्रकार यह गुरु-शिष्य परम्परा यों होनी चाहिए—रामानन्द-अनन्तानन्द-कृष्णदास-अग्रदास-विनोदी-अनंतदास । अनंतदास रामानंद से छटी पीढ़ी में हुए। यह सं० १६४५ तक तो अवश्य वर्तमान थे। मोटे तौर पर अनंतदास तक पाँच पीढ़ियों के लिए १२५ वर्ष का समय रखा जाय तो अनंतदास के समय में से इसे निकाल देने पर रामानंद जी का समय (१६४५ – १२५) सं० १५२० तक ठहरता है। इस प्रकार चाहे रामानुज से नीचे चौदह पीढ़ी तक देखें, चाहे अनंतदास से ऊपर छठी पीढ़ी तक देखें, दोनों प्रकार से रामानंद जी का समय सं १५१६ – १५२० तक आता है। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह एक मोटा हिसाब है जिसमें १०-१५ वर्ष आगे पीछे होना सर्वथा सम्भव है। इस अनुमान से कबीर की जो एक मृत्यु-तिथि सं १५०५ प्रसिद्ध है, वह कबीर की न होकर रामानंद की ही मृत्यु-तिथि हो सकती है। ऐसा मान लेने पर यह मामला सरल हो जाता है कि कबीर की दीक्षा सं० १४७५ – ७६ के लगभग हुई और उसके बाद वह सं० १५०५ तक लगभग ३० वर्ष गुरु के साथ रहे।"

कबीर दास जी के रामानंदजी द्वारा दीक्षित होने के विषय में उक्त विचार हमें मान्य है और यह समय का हिसाब भी अनुमान से ठीक ही प्रतीत होता है। कबीरदास जी शेख तक़ी से मिले अवश्य परंतु उनसे दीक्षा नहीं ली।

कबीर का पर्यटन

कबीर दास जी का विश्वास तीर्थों इत्यादि में नहीं था और इसी लिए हमें उनकी रचनाओं में उनके देशाटन करने का बहुत कम उल्लेख मिलता है। परन्तु इस काल के संतों में देशाटन की एक प्रवृत्ति पाई जाती है जिसका नितान्त अभाव हम कबीर दास जी में भी नहीं देखते। मुसलमान फ़क़ीरों के सत्संग के लिए कबीर दास जी भूँसी, जौनपुर, मानिकपुर इत्यादि स्थानों पर गए, इसका उल्लेख हम पीछे भी कर चुके हैं और इसका संकेत हमें कबीरदास जी के पदों में भी मिलता है। कबीर दास की परचई के लेखक अनंतदास जी आपके, अपनी गुरुमण्डली के साथ,

पीपा के देश (गागरोन गढ़) और द्वारिका जाने पर भी प्रकाश डालते हैं। आपके मथुरा जाने की ओर भी सकेत किया गया है परंतु कबीरदास जी ने यह पर्यटन धर्म-प्रेरणा से किया होगा यह अनुमान लगाना कठिन है क्यों कि उन्होंने तो अपनी वाणी में तीर्थाटन[1] और हज की निस्सारता पर ही अपने विचार प्रकट किये हैं। फिर भी चाहे खोज के लिए ही क्यों न हो परन्तु उन्होंने देशाटन कुछ अवश्य किया होगा। निम्नलिखित पद से थोड़ी सी इसकी झलक मिलती है —

कबीर सब जग हंडिया, मंदिल कंधि चढ़ाइ।
हरि बिन अपना को नहीं, देखे ठोकि बजाई।

परन्तु यह निश्चित ही है कि वह तीर्थ-भ्रमण में विश्वास नहीं रखते थे। उनकी कुछ उक्तियों[2] के आधार पर उनका काबे जाना मान लेना नितान्त भ्रम मात्र है। उनका तो हज भी गोमती तीर पर ही समाप्त हो जाता था।

हज हमारा गोमती तीर..... ....(वही आ० १३)

कबीर ने जहाँ भी इन तीर्थों के नाम लिए हैं वहाँ उनका लक्ष कभी भी लौकिक पक्ष में नहीं रहा और इनकी असारता प्रकट करने के लिए ही इनका प्रयोग किया गया है। इसलिए यह मानते हुए भी कि कबीर कुछ स्थानों पर पर्यटन के लिए गये होंगे यह मानना कठिन है कि यह उनके धर्म-विश्वास का कोई अङ्ग बन सकता है।

---

१. (१) मथुरा जावै द्वारिका, भावै जा जगनाथ।
साध-संगति हरि-भगति बिन, कछू न आवै हाथ॥
—(कबीर-वचनामृत, साखी भाग, पृ० १४२, दो० २)

(२) मन मथुरा दिल द्वारिका, काया काशी जांणि।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं तोति पिछांणि॥
—(कबीर-वचनामृत, साखी, पृ० १२, दो १०)

(३) सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबे जाइ।
जाकी दिल साबित नहीं, ताकऊ कहां खुदाई॥
—(सं० क०, स० १८५)

२. हज काबे होई-होई गया, केती बार कबीर।
मीरा मुझ सूं क्या खता, मुखाँ न बोलै पीर॥
—(बा० सा० ५६। ६)

कबीर की शिष्य-परम्परा

महाकवि कबीर ने अपनी वाणी में गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्धों का मुक्त कण्ठ से गान किया है। आपके मतानुसार तो गुरु का स्थान किसी भी प्रकार भगवान् से कम नहीं है। ऐसी दशा में जिन-जिन लोगों को आपने सत् पथ दिखलाया, जब उन्होंने आपको गुरु माना होगा तो आप उन्हें इस लाभ से वंचित नहीं कर सकते थे। भक्त-परम्परा के आधार पर बिजली खाँ, धर्मदास, वीरसिंह बघेला, सुरत गोपाल, जीवा, तत्वा, जागूदास इत्यादि आपके शिष्य हैं। वीरसिंह बघेला के नाम का उल्लेख अनन्तदास कृत परचई में मिलता है। स्वयँ कबीरदासजी की बानी में कहीं पर भी इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता।

कबीर के जीवन की अन्य प्रसिद्धि घटनाएँ

संत-परम्परा के कवियों के विषय में कुछ अलौकिक घटनाओं की प्रसिद्धि भी पाई जाती है। इसी प्रकार की कुछ घटनाएँ कबीरदास जी के जीवन से भी सम्बन्धित हैं। उनका संक्षेप में नीचे विवरण दिया जाता है।

(१) कहते हैं कि एक बार गोरखनाथ ने रामानन्द को योग-दंगल के लिए ललकारा। कबीदास ने तुरन्त आगे बढ़कर एक धागा आसमान में फेंक दिया और उसपर गोरखनाथ के लिए आसन बन गया। इससे सभी दर्शक चमत्कृत हो उठे।

(२) एक बार बीरसिह देव की सभा में बैठे-बैठे आपने पुरी में जगन्नाथ जी के पंडा का जलता हुआ पैर शीतल कर दिया था।

(३) एक बार आपने एक माता पर दया-दृष्टि करके उसके मृतक बच्चे को जिला दिया था।

(४) मृत्यु के समय आपके शव का केवल फूलों में शेष रह जाना भी इसी प्रकार की घटना है।

उक्त घटनाएँ सत्य हैं अथवा असत्य इसका निर्णय आज करना कठिन है। इस प्रकार की अनेकों घटनाएँ और करामातें इन योगी संतों के विषय में प्रचलित हैं।

संक्षिप्त

महाकवि कबीर के जीवनचरित्र को उक्त आठ भागों में विभक्त करके विचार करने पर हम निम्नलिखित तथ्यों के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१. कबीरदास जी का जन्म सं० १४५५ में हुआ।

२. कबीरदास जी की मृत्यु सं० १५७५ में हुई।

अशांति के समय (१३९८) में तैमूर ने आक्रमण करके हिन्दुओं पर जो जुल्म ढाया वह इतिहास के पन्नों पर उन घृणित अक्षरों से लिखा हुआ है कि जिन्हें मानवता सम्भवतः कभी भी धोकर साफ़ नहीं कर सकेगी। 'मिडिवल इंडिया' में इस घटना का विस्तार के साथ चित्रण किया गया है। यह काल हिन्दू-धर्म और उसके अनुयायियों के लिए वह समय था जब कि उनका मान, उनकी मर्यादा, उनके बाल-बच्चे, उनका धन-माल सभी कुछ अत्याचारी शासकों और आक्रमणकारियों की लोलुप दृष्टि का शिकार बना हुआ था। अनाचार, आचरण-भ्रष्टता, अत्याचार, दारिद्र, अशांति, निराशा और क्लांति का देश के कोने-कोने में बोल बाला था।

देश की ऐसी दुर्दशा के समय शासन की बागडोरें तुगलक वंश के हाथों से छिनकर लोदी वंश के हाथों में आईं और एक बार बहलोल लोदी के रूप में देश को आशा की झलक दिखलाई देने लगी परन्तु देश के दुर्भाग्यवश वह अधिक दिन शासन-सत्ता को न सँभाल सका और उसके पश्चात् शासन की बाग-डोरें सिकन्दर लोदी के हाथों में चली गईं। सिकन्दर लोदी का समय हिन्दुओं के लिए और भी भयानक आया। इस काल में हिन्दुओं को गाजर-मूली तरह काटकर फेंक दिया गया। एक-एक दिन में उसने १५०० हिन्दुओं को मौत के मुँह में पहुँचा कर अपनी इस्लामी लिप्सा को शांत किया। यहाँ तक कि उसने लोगों का यमुना में स्नान करना भी बन्द कर दिया था। मंदिरों को तुड़वाकर उनके स्थानों पर सराएँ बनवाईं गईं और इस प्रकार हिंदू धर्म पर कुठाराघात हुआ।

इन्हीं महाशय सिकन्दर लोदी ने एक बार महाकवि कबीर को भी दंडित करने का प्रयास किया था, परन्तु सौभाग्य से वह बच गये।

इस प्रकार हमने देखा कि राजनैतिक विचार से कबीर का जीवन-काल महान् अन्धकारपूर्ण था और चारों ओर निराशा का साम्राज्य छाया हुआ था।

देश की धार्मिक दशा

कबीर-कालीन राजनैतिक परिस्थिति पर विचार करने से यह स्पष्ट हो गया कि इस काल में हिन्दुओं की दशा बहुत खराब थी। उन्हें किसी प्रकार की भी स्वतंत्रता नहीं थी। जीवन के साधारण धार्मिक नियमों को भी वह स्वतंत्रतापूर्वक नहीं निभा सकते थे। हिन्दू राजाओं का युग समाप्त हो चुका था। उनका एक प्रकार से सर्वनाश हो गया था और मुसलमानी सत्ता के सम्मुख वह इस काल में सिर नहीं उठा सकते थे।

हिन्दुओं का बल-पौरुष समाप्त ही था। वह अपनी रक्षा करने में असमर्थ थे। कोई संगठित प्रयास वह यवनों के विरुद्ध प्रस्तुत नहीं कर सकते थे।

इन सभी आचार्यों के दार्शनिक वादों में पारस्परिक अन्तर हैं, परन्तु इन सभी ने साधना में भक्ति को प्रधानता दी है। रामानुजाचार्य ने साधना में ज्ञान को प्रधानता दी थी। यह दोनों विचार-धाराओं का प्रधान अन्तर है।

बौद्ध धर्म की विशृङ्खल धाराओं के प्रति, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, यवनों के भारत में बढ़ने वाले प्रभाव के फलस्वरूप बहुत बड़ी प्रतिक्रिया देखने को मिलती है। इसका प्रभाव, जनता तथा विचारकों, दोनों पर समान रूप से दिखलाई देता है। उत्तर भारत में नाथ-पंथ और दक्षिण भारत में लिंगयात आदि धर्मों का उदय इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप माना जाना चाहिए।

नीचे हम उक्त आचार्यों की विचार-धाराओं का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत करते हैं।

शङ्कराचार्य—शङ्कराचार्य अद्वैत सिद्धांत के प्रधान प्रतिपादक हैं। मायावाद का भी इन्हें आचार्य माना जाता है। आपने जगत को मिथ्या कहा है और ब्रह्म तथा जीव में कोई तात्विक भेद नहीं माना। आपने माया का आवरण और विक्षेप दो रूप में चित्रण किया है। आवरण माया की वह शक्ति है जो जीवात्मा की दृष्टि से ब्रह्म के विशुद्ध स्वरूप को ओझल कर देती है और ब्रह्म को एक प्रकार से ढक लेती है तथा विक्षेप माया की वह शक्ति है जिसका सहारा लेकर ब्रह्म जगत का निर्माण करता है। जहाँ तक जीवात्मा का सम्बन्ध है उसे शङ्कराचार्य नित्य मानते हैं; ब्रह्म से उसका सर्वदा ऐक्य रहता है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है। जीव शरीर का अध्यक्ष है और कर्म-फल के अनुसार शरीर में प्रवेश करता है तथा उसका त्याग करता है। जीव की दो प्रकार की प्रवृत्ति होती हैं अंतर्मुखी तथा बहिर्मुखी। जब जीव अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों के आधीन कार्य करता है तो उसका झुकाव ब्रह्म की ओर होता है और जब वह बहिर्मुखी प्रवृत्तियों में बहने लगता है तो उस पर आवरण अर्थात् माया का प्रभाव बढ़ने लगता है और वह ब्रह्म से विमुख होकर दुनियाँ में फँसने लगता है। शङ्कराचार्य ने ब्रह्म-प्राप्ति के साधनों में कर्म, भक्ति और ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञान को प्रधानता दी है।

कबीर के विचारों पर हमें शङ्कराचार्य के वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है।

रामानुजाचार्य—रामानुजाचार्य शङ्कराचार्य की भाँति श्रुतिप्रमाण में मान्यता रखने पर भी दर्शन में तीन पदार्थ मानते हैं—चित, अचित और ईश्वर अर्थात् जीव, प्रकृति और ईश्वर (ब्रह्म)। आपके मतानुसार ईश्वर सर्वान्तरयामी है। परन्तु साथ ही जीव तथा प्रकृति भी नित्य और स्वतन्त्र हैं। परन्तु स्वतन्त्र होने पर भी इन्हें ईश्वर के आधीन ही रहना पड़ता है। आपके मतानुसार उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्म सगुण ब्रह्म ही है। जहाँ ईश्वर चिद्-चिद् के सम्बन्ध से

प्रश्न है वहाँ श्री भाष्य[1] में चिद्-चिद् को विशेषण और ईश्वर को विशेष्य माना है। यही कारण है कि रामानुजाचार्य के मत का नामकरण भी विशिष्टाद्वैत के रूप में हुआ। ईश्वर स्वेच्छा से जगत का उत्पादन करता है। जगत की सृष्टि और संहार ईश्वर अपनी लीला के लिए करता है। प्रलय के समय जीव और प्रकृति सूक्ष्म रूप धारण करके परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म चिद्-चिद् विशिष्ट ब्रह्म को 'कारणावस्थ ब्रह्म' तथा सृष्टि-काल के स्थूल रूप को 'कार्यावस्थ' ब्रह्म कहते हैं। परिणामवादी विशिष्टाद्वैत में ही कार्य कारण का भेद मिलता है। रामानुजाचार्य जीव को अनन्त और अणु रूप मानते हैं। जीव को उन्होंने ब्रह्म से पृथक नहीं माना वरन् प्राथक्य को गुणों के कारण माना है।

शङ्कराचार्य के ही समान रामानुजाचार्य ने भी मनुष्य का मुख्य लक्ष्य मुक्ति-प्राप्ति माना है; परन्तु मुक्ति प्राप्त करने के साधनों में जहाँ शङ्कराचार्य ने ज्ञान को प्रधानता दी है वहाँ रामानुजाचार्य ने भक्ति को अपनाया है। *कबीर-कालीन संत तथा महात्माओं की धार्मिक विचार-धारा को जितना रामानुजाचार्य की भक्ति तथा* प्रपत्ति प्रभावित कर सकी उतना प्रभाव शंकराचार्य की ज्ञानाश्रयी धारा का नहीं हुआ। कबीरदास जी ज्ञान मार्गी होने पर भी भक्ति-भावना से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

माधवाचार्य—माधवाचार्य द्वैतवाद के प्रवर्तक हैं। ब्रह्म सम्प्रदाय का प्रारम्भ आप के ही विचारों से हुआ था। यह विष्णु को ही साक्षात परमात्मा मानते हैं और वही अनन्त गुण सम्पन्न हैं। सजातीय तथा विजातीय सभी तत्त्व उसमें विद्यमान हैं। वह संसार के जीवों से विलक्षण हैं और नाना रूप धारण करते रहते हैं। लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है, उनके आधीन है, परन्तु उनसे सर्वथा भिन्न है। वह जीव को सांसारिक मानते हैं और मुक्ति प्राप्त करना जीव का परम लक्ष्य है। मुक्त होने पर जीव ब्रह्म को प्राप्त होता है। रामानुजाचार्य के ही समान यह भी भक्ति को मुक्ति का साधन मानते हैं। इनकी विचारधारा का कबीर पर हम कोई विशेष प्रभाव नहीं पाते, परन्तु मध्यकालीन आध्यात्मिक विचार-धारा को आपके विचारों ने कुछ कम प्रभावित नहीं किया।

निम्बार्काचार्य—निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत मत के प्रतिपादक हैं। आपने ब्रह्म के द्वैत और अद्वैत दोनों रूपों को माना है। वह कर्तव्य के लिए जीव को स्वतन्त्र मानते हैं परन्तु योग के क्षेत्र में वह ईश्वराश्रित हैं। इस प्रकार जीव नियम्य है और ईश्वर नियन्ता। जीव ईश्वर का अंश होने पर भी बहुत प्रकार का है। आपने अचित् के प्राकृत, अप्राकृत और काल तीन रूप माने हैं। निम्बार्क-मत में

---

१. श्री भाष्य—६।१।२

ईश्वर के सगुण रूप का ही प्रतिपादन मिलता है। आपके विचार से जीवात्मा सांसारिक क्लेशों से केवल भक्ति द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। प्रपत्ति मूलक भक्ति के द्वारा ही जीव को भगवानानुग्रह प्राप्त हो सकता है। द्वैताद्वैत आध्यात्मिक विचार का भी हमें कबीर की विचारावलि पर कोई प्रभाव नहीं दिखलाई देता।

विष्णुस्वामी—विष्णु स्वामी माध्वाचार्य के मतावलम्बी ही थे। आपने अद्वैतवाद से माया को पृथक करने का प्रयास किया है। आपने विशेष रूप से राधा और कृष्ण की भक्ति को ही महत्व दिया है। इनका प्रभाव विद्यापति और चण्डीदास की कविता पर पड़ा है। कबीर की विचार-धारा से इनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं।

इस प्रकार हमने ऊपर देखा कि देश के वातावरण में, अद्वैत और द्वैत, दोनों ही भावनाओं को लेकर आचार्य लोग आध्यात्मिक क्षेत्र में धर्म का प्रचार कर रहे थे। देश के वातावरण में ज्ञान और भक्ति का एक साथ समन्वय हो रहा था और उससे प्रभावित होकर देश का विचार तथा साहित्य प्रसारित हो रहा था। विचार में भक्ति और भक्ति में विचार का सम्मिश्रण था और इसी को निर्गुणवाद में सगुण-वाद और सगुणवाद में निर्गुणवाद भी यदि कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

आचार्यों के इन गूढ़ तत्वों को समझना साधारण जनता के लिए कठिन था। इसलिए धर्म के क्षेत्र में कुछ ठेकेदार लोग पैदा हो गए; जिन्होंने धर्म को अपने दस्तों में बाँध लिया और कुछ विशेष अवसरों पर ही अपने अनुयाईयों या अनुगामियों को सुनाने, समझाने या अनुसरण कराने का जिम्मा अपने ऊपर ले लिया। जन साधारण ने भी धर्म के पचड़े से इस प्रकार छुट्टी पाली और कुछ विशेष अवसरों पर खानापुरी के लिए इनके ठेकेदार पुरोहितों को मान्य मान लिया। यह पुरोहितों का एक नया रोजगार बन गया जिसका बाह्याडम्बर विकट रूप से भारत की जनता में छा गया। हिन्दू पुरोहितों के प्रभाव से मुसलमान मुल्ले भी न बच सके और इस वातावरण का उन्होंने भी लाभ उठाया। बुतों के शत्रु मुसलमान भी पीर पैगम्बरों के पीछे दौड़ने लगे और सिद्ध सन्तों का बोल बाला हो उठा।

महा कवि कबीर ने इस बाह्याडम्बर की अपने साहित्य में खूब खबर ली है। उन्होंने हिन्दू या मुसलमान दोनों में से किसी को भी नहीं बख्शा है। यह धर्म के क्षेत्र में व्यर्थ का आडम्बरवाद आ जाने की प्रतिक्रिया थी जो कबीर की वाणी में स्पष्ट रूप से प्रतिलक्षित हो उठी। इस प्रतिक्रिया के साथ-ही-साथ कुछ संतों का क्रियात्मक प्रभाव भी कबीर पर पड़ा हुआ स्पष्ट दिखलाई देता है। जिन संतों का कबीर पर स्पष्ट प्रभाव विद्वानों ने माना है उनमें नामदेव प्रमुख हैं। नामदेव के अतिरिक्त जयदेव और गोरखनाथ के प्रभावों से भी कबीरदास जी वंचित नहीं रह सके।

संत नामदेव—नामदेव जी महाराष्ट्र के संत थे। आपके गुरु का नाम विसोबा खेचर था। आपके हिन्दी में लगभग २१० पद मिलते हैं, जिनमें से ६२ पद ग्रन्थ साहब में उपलब्ध हैं। आपके विषय में कहा जाता है कि आप पहिले सगुणोपासक थे और बाद में निर्गुणोपासक हो गये। डा० मोहन सिंह ने लिखा है कि कबीर की शैली तथा भाव प्रवणता पर नामदेव का स्पष्ट प्रभाव है।[1] नामदेव जी की विचारधारा से कबीर की विचारधारा का बहुत कुछ साम्य स्पष्ट दिखलाई देता है। कर्म और वैराग्य का समन्वय दोनों की रचनाओं में मिलता है। दोनों ने ही निर्गुण ब्रह्म की उपासना में आस्था प्रकट की है। दोनों ही जाति-भेद से दूर रहकर अपने आध्यात्मिक विचारों का प्रसार करना चाहते थे। अनन्य प्रेम की भावना दोनों में समान रूप से पाई जाती है। नाम साधना पर दोनों ने ही बल दिया है। भक्ति के क्षेत्र में सेव्य और सेवक की भावना का प्रतिपादन दोनों में समान रूप से मिलता है।

जयदेव—महा कवि कबीर ने जहाँ अपनी वाणी में यत्र-तत्र संत नामदेव के नाम का उल्लेख किया है वहाँ जयदेव को भी नहीं भुलाया।[2] जयदेव संस्कृत गीति-काव्य के प्रसिद्ध लेखक हैं और आपके गीतों में राधा-कृष्ण की भक्ति का सुन्दर चित्रण है। कबीरदास को सम्भवतः जयदेव की भक्ति-भावना ने प्रेरित किया था और इसलिए उन्होंने उनके नाम का यत्र-तत्र उल्लेख किया है। परन्तु जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध है वहाँ कबीर पर जयदेव का हमें कोई प्रभाव दिखलाई नहीं देता। केवल पद-रचना के आकार पर कुछ प्रभाव अवश्य है।

गोरखनाथ—गोरखनाथ जी नाथ-पंथ के प्रधान आचार्य हुए हैं और इनके विचारों की अमिट छाप हमें कबीर के विचारों में दिखाई देती है। मन की साधना, प्राण की साधना और इन्द्रियों की साधना का जो विचार कबीर के साहित्य में मिलता है वह हम गोरखनाथ का ही प्रभाव मानते हैं। नाथ-पंथ पर पातञ्जली के योग का प्रभाव था और उसी ने कबीर दास को भी प्रभावित किया। योग के जो तत्व हमें कबीर की विचारधारा में मिलते हैं वह सब नाथ-पंथ की ही

---

१. कबीर एण्ड दी भक्ति मूवमेन्ट—(डा० मोहनसिंह—भाग १—पृ० ३४८)

२. (१) सनक सनन्दन जयदेव नामा। भगति करी मन उनहुं न जाना॥
—(कबीर पद ३२)

(२) संकर जागै चरन सेव। कलि जागे नामा जैदेव॥—(बा० प० ३८७, सं० का०, वसंत २)

(३) गुरु परसादी जैदेवु नामां। भगति कै प्रेम इन्हीं है जाना॥
—(सं० क०, गा० ३६)

देन हैं। इनके अतिरिक्त आचार प्रवणता पर कबीर ने जो जोर दिया है वह गोरखनाथ जी का ही ऋण प्रतीत होता है। कबीर दास की भाषा पर भी गोरखनाथ की भाषा का बहुत बड़ा प्रभाव प्रतिलक्षित होता है।

सूफ़ी सम्प्रदाय—ऊपर हमने संक्षेप में हिन्दू आचार्यों की विचारावलियों तथा उनके कबीर पर पड़ने वाले प्रभाव की ओर संकेत किया है। कबीरदास का दृष्टिकोण बहुत व्यापक था और वह सभी धर्मों में पाई जाने वाली अच्छाइयों को अपनी वाणी में समाविष्ट कर देना चाहते थे। ईसा की तेरहवीं शताब्दी में रहस्यवादी कवि जलालउद्दीन रूमी का प्रभाव फ़ारस के मुसलमानों पर व्यापक रूप से पड़ा। मुसलमानों में सूफ़ी धर्म का प्रचार हुआ और उसका प्रभाव भारत तक भी पहुँचा। सूफ़ी सम्प्रदाय का प्रसार चिश्ती और सुहरावर्दी ने प्रमुख रूप से किया। भारत में इसका प्रचार ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती (११४२-१२३६) ने किया। सुहरावर्दी सम्प्रदाय का प्रसार भारत में बहाउद्दीन जकारिया ने किया और इसका प्रसार बंगाल, बिहार, गुजरात, इत्यादि सभी जगह हुआ। कबीर पर सूफ़ी प्रेम-भावना का भी प्रभाव कम नहीं पड़ा।

इस प्रकार हमने ऊपर कबीर-कालीन धार्मिक परिस्थितियों का संक्षेप में ज्ञान प्राप्त किया और देखा कि देश में विभिन्न प्रकार की धार्मिक प्रवृत्तियाँ प्रश्रय पा रही थीं। कबीर ने सभी प्रवृत्तियों में से मानवमात्र के लिए लाभदायक तत्वों को चुना और अपने साहित्य में उनकी झलक देकर जन-मंगल कामना का प्रसार किया।

देश की सामाजिक दशा

हिन्दू-समाज—कबीर समकालीन देश की सामाजिक दशा बहुत खराब थी। धार्मिक आडम्बरों और राजनैतिक अव्यवस्थाओं तथा धर्मांधता के कारण समाज का ढाँचा विशृंखल हो चुका था। हिन्दू और मुसलमानों, दोनों के ही जीवन में, पोल आवश्यकता से अधिक आती जा रही थी। मुल्ला और पुजारियों का बोल बाला था और वह धर्मांध जनता को मन माने मार्गों पर डालकर अपना उल्लू सीधा करते चले जा रहे थे। हिन्दू-समाज में कहीं पर भी आशा की झलक दिखलाई नहीं देती थी। भय और शंका से समाज का जीवन आच्छादित था। पराधीन जाति के हृदय में भी उत्साह हो इस बात की ओर कभी विजेता जाति ने प्रयत्न नहीं किया। बल्कि उसके शव पर नृत्य करना ही उसने सीखा था। हीनता और निराशा का साम्राज्य हिन्दू जनता में व्यापक रूप से छाया हुआ था। यवनों के अत्याचारों, स्वेच्छाचारिता, क्रूरता, दानवता, बर्बरता और अमानुषिकता ने हिन्दू समाज के दिल को प्रकम्पित कर दिया था। जीवन का उत्साह नष्ट हो

चुका था और उत्साह के साथ-ही-साथ उन्नति और उत्थान की भी इति-श्री ही समझनी चाहिए। स्वाभिमान और आत्म प्रतिष्ठा के लिए हिन्दुओं के जीवन में कोई स्थान अवशेष नहीं था। अपनी आँखों के सामने अपने देवालयों का नष्ठ-भ्रष्ट होते देखना उनके लिए नित्य का कार्यक्रम बन गया था। इसके फल स्वरूप उनका ईश्वर की सत्ता से भी विश्वास उठता चला जा रहा था और मूर्ति-पूजा तथा बहुदेव वाद के प्रति तो उनमें महान उदासीनता आती चली जा रही थी।

वर्णव्यवस्था कर्म-गत न होकर जन्म-गत तो पहिले ही हो चुकी थी। परंतु इस काल में यवनों के आने से इसके प्रतिबंध आदि और भी दृढ़ हो गये और चार वर्ण के पेशों के अनुसार अनेकों जातियों में विभाजित हो गये। साथ ही रक्त की शुद्धता का बहाना सामने रखकर धर्म के ठेकेदारों ने समाज से बहिष्कृत करने के द्वार तो खोल दिये परन्तु बहिष्कृत होने के पश्चात् फिर समाज में लौट आने के द्वार बन्द कर दिये गये। इसके फलस्वरूप समाज बराबर क्षीण तथा विभाजित ही होता चला गया। समाज के नियमों को इतना कड़ा कर दिया गया कि उनमें मनुष्य की स्वतन्त्र प्रगतियों के लिए कोई स्थान ही नहीं रह गया। कबीर की वाणी में हमें इन प्रतिबन्धों के विरुद्ध स्पष्ट विद्रोह की भावना मिलती है। इसे हम धर्म की उक्त विचारावलियों की प्रतिक्रिया मानते हैं; जिसमे अनेक ब्राह्मणों ने एक जुलाहे से दीक्षा ली; जब कि ब्राह्मण लोग शूद्र की परछाई से भी दूर भागते थे और शूद्रों के कानों में वेद-वाक्य पड़ जाने पर उनमें सीसा गलाकर डलवा दिया करते थे।

इस काल में हिन्दू समाज अधोगति को प्राप्त हो चुका था। समाज के पथ-प्रदर्शक पुरोहितों में पाखंडियों की गिनती बढ़ रही थी। समाज में उत्साह का नाम तक नहीं था। ऐसी दशा में विद्या और कला का उसमे विकास नहीं हो सकता था। उसका जीवन-स्तर नित्यप्रति गिरता चला जा रहा था। इस कठिन काल में साहित्य, संस्कृति और भाषा की उन्नति का स्वप्न देखना तो स्वप्न-तुल्य ही था। जन साधारण में शिक्षा का नितांत अभाव हो चला था; धार्मिक अंध-विश्वास, आडम्बर इत्यादि भी इसी अशिक्षा के फलस्वरूप बढ़ते जा रहे थे।

मुसलमान समाज—मुसलमान समाज विजेताओं का समाज था, परंतु उसकी भी दशा किसी प्रकार हिन्दू-समाज से अच्छी नहीं थी। यह सच है कि उसकी आर्थिक स्थिति हिन्दू-समाज से अच्छी थी परंतु विजेता होने के कारण उसके जीवन से मानवता का तत्त्व नितांत लुप्त हो चुका था। बड़े-बड़े सामंत योद्धा और पराक्रमी न रह कर केवल आचरण भ्रष्ट अमीर और ऐशपसंद साधारण व्यक्ति मात्र रह गये थे। फौजों में स्त्रियों को रखना और शराब पीना तो इस समय

की साधारण बातें थीं जिनके फल स्वरूप समाज दुर्बल पड़ता जा रहा था और इसी लिए देश का शासन अस्त-व्यस्त होता जा रहा था। देश में अशांति होने से लूट मार को बढ़ावा मिला और समाज, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, का जीवन हर समय सशंकित रहने लगा। यवन लोगों का आचरण इस काल में आवश्यकता से अधिक भ्रष्ट हो चुका था। इस प्रकार ऐश में फँस कर मुसलमानों ने अपने जीवन के साधारण नियमों को भी ठुकरा दिया था और उनका समाज कुछ विचित्र परिस्थितियों का शिकार बन चुका था।

महाकवि कबीर ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही समाजों की उक्त धर्माडम्बरता के प्रति अपना कटु मतभेद प्रकट किया है और विशुद्ध मानवतावादी सिद्धांत का प्रतिपादन किया। कबीर के अतिरिक्त इस काल में पैदा होने वाले रामानंद, जायसी इत्यादि संतों ने भी उक्त अव्यवस्थाओं को ध्यान में रखकर एक सामान्य धर्म की स्थापना करने का प्रयास किया है। इस सामान्य धर्म में मिथ्या कर्मकाण्ड के लिए कोई स्थान नहीं रखा गया और जाति-बन्धनों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है।

साहित्यिक परिस्थितियाँ

इस काल का साहित्य प्रयोजन प्रधान था। यों तो साहित्य का बिना प्रयोजन के होना मैं मानता ही नहीं और 'स्वान्तः सुखाय' वाली कला कभी कालीदास के समय में रही होगी, परन्तु जबसे हिंदी ने जन्म लिया है उसके साहित्य में प्रयोजन आदि काल से साथ-साथ चला है। वीरगाथा काल, भक्ति-काल, रीति काल तथा आधुनिक काल के साहित्य पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि प्रयोजन सबके अन्दर निहित है। यह प्रयोजन स्वार्थ और परमार्थ दोनों के लिए रहा है। भक्ति-काल के साहित्यिक प्रयोजन को मैं परमार्थ के लिए मानता हूँ। कबीर, जायसी, सूर और तुलसी जैसे कवियों का साहित्य परमार्थ के लिए ही प्रधानतया लिखा गया।

कबीर कालीन साहित्य विशेष रूप से धार्मिक विचार-धाराओं का प्रतिपादन मात्र है, कला का चमत्कार या स्वाभाविक साहित्य-विकास नहीं। कबीर ने जहाँ रूपकों का प्रयोग भी किया है वहाँ साहित्यिक सौंदर्य के लिए न करके अपने विचारों के स्पष्टीकरण के लिए ही किया है। कबीर कहते हैं "विद्या न पढ़ूँ, वाद नहिं जानूँ" (क० ग्रं० पृ० १३५) इसका अर्थ यह है कि उनका साहित्य और कला से कोई सम्बन्ध नहीं था। जहाँ तक धार्मिक साहित्य का सम्बन्ध है वहाँ तक वह ज्ञान कबीरदास जी ने पढ़कर नहीं, सुनकर प्राप्त किया था।

उक्त परिस्थितियों का कबीर और उसके साहित्य पर प्रभाव

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कबीर का जीवन-काल राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण से मिथ्यावाद और बाह्याडम्बरों के मायाजाल में ग्रस्त था।[1] कबीर के जीवन पर उक्त प्रकार के वातावरण ने एक ऐसी प्रतिक्रिया की छाप डाली कि उनके मन में इन पाखण्डों के प्रति ग्लानि का भाव पैदा हो गया। कबीर के हृदय में इस आडम्बर ने एक ऐसा वातावरण पैदा कर दिया कि उसे स्वयं के कर्मकाण्ड से नफरत हो गई और उसका मन सगुण भक्ति की ओर से फिसलकर निर्गुण-क्षेत्र में पहुँच गया।

महाकवि कबीर ने देश की दशा को भली प्रकार परखा और एक निर्द्वन्द्व व्यक्ति के नाते साहस के साथ धर्म और समाज की कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई। निस्संकोच भाव से बुराइयों की आलोचना की और जहाँ कहीं भी उन्हें कोई अच्छाई की झलक दिखाई दी उसे अपनी वाणी में व्यक्त किया। कबीर ने धर्म और समाज के जीवन में क्रांति का अमर संदेश फूँक दिया। इस क्रांति के फल-स्वरूप निराश्रित पड़ी जनता ने एक बार फिर से सहारा पाकर स्वतंत्र वातावरण में श्वांस लेने का प्रयत्न किया और पाखण्ड के पंजों में कुचली जाती हुई भोली-भाली जनता ने कबीर को सुधारक के रूप में स्वीकार करके अपना पथ-प्रदर्शक माना।

कबीरदास जी ने हिंदू तथा मुसलमान पाखण्डी धर्म-प्रचारकों को आड़े हाथों लिया। कबीर की स्वभावगत विशेषता को समय की दीन अवस्था की प्रतिक्रिया ने बल प्रदान किया और उनके विचारों ने देश के लम्बे चौड़े भाग में एक तहलका मचा दिया। कबीर का सारा जीवन सत्य की खोज और असत्य का खण्डन करने में व्यतीत हुआ। जो उन्हें अपने प्रयोग में सत्य ठहरा उसी का पालन और प्रचार करना उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। कबीर के जीवन में हमें कहीं पर भी निर्बलता या हताशता के दर्शन नहीं होते, बल्कि कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी हमने उन्हें पूर्ण रूप से दृढ़ ही पाया है। कबीरदास जी स्वयं अपने को

---

१. (१) कर पकरैं, अंगुरी गिनैं, मन धावै चहुँ ओर।
जाहि फिरांया हरि मिलैं, सो भया काठ की ठौर॥
—(कबीर वचनामृत-साखी भाग-पृ० १३१)

(२) केसों कहा बिगाड़िया, जे मूड़ैं सौ बार।
मन कों काहे न मूड़िए, जामैं विषै विकार॥
—(कबीर वचनामृत-साखी भाग-पृ० १३४)

सच्चा शूरवीर मानते थे और सच्चे शूरवीर का उन्होंने मुक्त कण्ठ से वर्णन भी किया है।[1]

कबीरदास जी जहाँ एक ओर विनय[2] के क्षेत्र में अपने को बहुत नीचे गिरा देते हैं, वहाँ स्वाभिमान के क्षेत्र में प्राणों पर भी खेल जाने में उन्हें संकोच नहीं होता। यहाँ यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि कबीरदास जी की इस सबलता में अक्खड़ता का आभास मिलता है। इसका प्रधान कारण तो उनका असाहित्यिक होना और उच्च वर्गीय शिष्ट समाज के आडम्बरों के प्रति घृणा की भावना का होना ही जान पड़ता है। कबीर की निर्भीकता और स्पष्टवादिता में हमें जो कर्कशता मिलती है उसका वहाँ होना स्वाभाविक ही है। कबीर की सुधारात्मक उक्तियों में तो यह स्पष्टवादिता मानो कूट-कूट कर भरी पड़ी है।[3] *'पण्डित वाद वदन्ते झूठा'* कहने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता।

कबीर की बुद्धिवादिता

कबीर के विचारों की कसौटी के रूप में हम कबीर की बुद्धि को ही पाते हैं। कबीर दास ने अपने जीवन में आने वाली प्रत्येक परिस्थिति, घटना और विचार को पहिले अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसा है और तभी उसके विषय में अपना मत प्रकट किया है; यों ही किसी बात को वेद, शास्त्र, पुराण या कुरान के आधार पर सत्य नहीं मान लिया। यह इस युग में कबीर की सबसे बड़ी विशेषता थी जिसने उनके जीवन में कभी धर्मान्धता की छाया को नहीं घुसने दिया। यह पूर्ण रूप से बुद्धिवादी व्यक्ति थे। केवल कही-सुनी बातों पर विश्वास करना वह अज्ञानी का कार्य समझते थे; परन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि उनकी बुद्धि-वादिता में तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्व दिया गया था। साधना के प्रश्न को तर्क द्वारा हल करने वालों को कबीर दास जी मोटी अक्ल वाला कहते

---

१. भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का कांम।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम॥

२. कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नांउँ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाऊँ॥
—(कबीर वचनामृत-पृ० ६२)

३. (१) दिन भर रोजा रहत हैं, राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बन्दगी, कैसे खुसी खुदाय॥
(२) बकरी पाती खात है, तिनकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात हैं, तिनका कौन हवाल॥

हैं।[1] जैसा हम पीछे कह आये हैं कबीरदास जी धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्र में समरसता लाने के पक्षपाती थे और समरसता कभी भी तर्क द्वारा सम्भव नहीं होती। इसी लिए आपने कभी तर्क का समर्थन सत्य-निरूपण के लिए नहीं किया।

संत कबीर की वाणी में जहाँ कहीं भी हमें ऐसे पद मिलते हैं कि उनमें आत्म-विश्वास की अभिव्यक्ति है वहाँ उनकी उक्तियाँ कुछ ऐसी प्रतीत होती हैं कि मानो उनमें अभिमान की मात्रा अधिक हो गई है; परन्तु कबीर जैसे विनम्र संत के ऊपर यह दोषारोपण करना उचित प्रतीत नहीं होता।

इस प्रकार हमने इस अध्याय में कबीर कालीन राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक वातावरण पर दृष्टि डालते हुए उनके प्रभावों के कबीर के व्यक्तित्व-विकास में सहयोग को देखने का प्रयास किया है। किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण उसके विचार, उसकी भावना, उसकी प्रेरणा और बाहर जगत की परिस्थितियों के आधार पर होता है। स्वभाव से व्यक्ति के शरीर और मानस की समष्टि को ही उसका व्यक्तित्व कहते हैं। यह व्यक्तित्व पूर्व जन्म और इस जन्म के संस्कारों और जीवन में आने वाली परिस्थितियों के संघर्ष से निर्मित होता है। इसी आधार पर हमने ऊपर विचार किया है और कबीर के विचारों के प्रवाह का कारण जानने का प्रयत्न किया है।

संक्षिप्त

कबीर-कालीन परिस्थितियों पर विचार करने के पश्चात् निम्नलिखित प्रधान बातें हमारे सम्मुख आती हैं—

१. इस काल में देश की राजनैतिक दशा बहुत खराब थी। चारों ओर अशांति का साम्राज्य था और सुख तथा शांति का देश से लोप हो चुका था।

२. केन्द्रीय शासन अव्यवस्थित था और वीर सामन्तों में विलासिता आने लगी थी।

३. शासन प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रहा था।

४. देश में दुर्भिक्ष पड़ रहे थे और जनता में त्राहि-त्राहि मची हुई थी।

५. धर्म के क्षेत्र में हिन्दुओं पर मुसलमानों के अत्याचार हो रहे थे और हिन्दुओं को स्वतंत्रता पूर्वक अपने धर्म को मानने में भी कठिनाई उपस्थित हो रही थी।

६. मंदिरों को तुड़वा कर उनके स्थानों पर सरायें बनवाई जा रही थी और

---

१. कहै कबीर तरक जोइ साधै ताकी मति है मोटी।—(क० ग्रं०-पृ० २-११)

अपने को हिंदू कहने वालों के जान-माल का कोई रक्षा करने वाला नहीं था। उन्हें जानवरों की भांति मार डाला जाता था और उनकी कहीं सुनाई नहीं होती थी।

७. धर्म के क्षेत्र में पाखण्डियों का बोल बाला था और वह भयभीत जनता को अपने संकेतों पर अंधविश्वास के साथ धकेलते हुए आगे बढ़ रहे थे तथा अपनी मनमानी करते हुए पाखण्ड को बढ़ावा दे रहे थे।

८. धर्म की इस दुर्व्यवस्था में लोगों का ईश्वर से विश्वास उठता जा रहा था।

९. मुसलमान लोग ऐशपरस्त हो चुके थे और उनके आचार-विचार भी भ्रष्ट हो चुके थे।

१०. ऐसी परिस्थिति में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, निम्बार्काचार्य, विष्णुस्वामी, नामदेव, जयदेव, गोरखनाथ इत्यादि संतों का आविर्भाव हुआ और इन लोगों ने जनता के मिटते हुए साहस को आश्रय प्रदान किया।

११. इसी काल में सूफी विचार-धारा भी देश में फैली और उसने हिंदू-मुसलमान एकता को लेकर प्रेम की भावना को प्रश्रय दिया।

१२. हिन्दू समाज की दशा बिगड़ चुकी थी। वर्णाश्रम धर्म जातियों में विभाजित होकर अपनी पुरातन महत्ता को नष्ट कर चुका था।

१३. धार्मिक पाखण्डी पुरोहितों ने जनता में बहुत सी भ्रामक बातें फैलाकर ऐसी रूढ़ियाँ अपने खाने पीने के लिए पैदा कर दी थीं कि जिनके कारण समाज के जीवन की वास्तविक प्रगति एक दम रुक गई थी।

१४. हिंदू समाज तो गिर ही चुका था परन्तु मुसलमान समाज में भी मानवता लेशमात्र नहीं रही थी। समाज चरित्रहीनता की ओर अग्रसर हो चुका था।

१५. ऐसे काल में भला साहित्य का क्या सृजन हो सकता था? जो कुछ भी हुआ वह इन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप संतों की वाणी के रूप में ही उपलब्ध है।

१६. उक्त परिस्थितियों के फल स्वरूप कबीर के जीवन में एक विद्रोह की ज्वाला जल उठी और उसने हिंदू-मुस्लिम एकता को लेकर अपने विचारों का प्रसार किया।

१७. कबीर ने पाखण्डों का खण्डन किया और समाज को उन्नति का मार्ग दिखलाया।

१८. कबीर ने अन्धविश्वास को एकदम नमस्कार कर दिया और बुद्धि के आधार पर विचारों और परिस्थितियों को [illegible]।

१९. कबीर की स्पष्टवादिता और सत्य की प्रेरणा ने असहाय जनता को [illegible] प्रदान किया और उस समय देश में फिर आशा की लहर दौड़ गई।

अध्याय ३

कबीर की रचनाएँ और उनकी भाषा

जो कबीरदास जी अपनी साखी में यह कहते हैं—

मसि कागद छूआ नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिउ जुग को महातम, (कबीर) मुखहि जनाई बात॥

उनके हाथ की लिखी पांडुलिपियाँ खोजना तो व्यर्थ की ही बात है, और जब उन्होंने अपने हाथ से कुछ लिखा ही नहीं तो उसकी प्रतिलिपियाँ ही कहाँ से उपलब्ध हो सकती हैं। परन्तु यह कागज कलम न छूना इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि कबीरदास जी को लिखना पढ़ना आता ही नहीं था। यदि उनके हाथ की कोई पांडुलिपि नहीं मिलती तो मानस की भी तुलसीदास जी के हाथ की लिखी कोई पांडुलिपि उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार के वाक्य अपने विषय में लिखने की तो प्रवृत्ति इस काल के संतों में पाई जाती है। कविवर जायसी भी अपने लिए इसी प्रकार का कम पढ़ा लिखा होने का वाक्य[1] प्रयुक्त करते हैं। कबीरदास जी ने तो उक्त भाव को अन्यत्र भी कई स्थानों[2] पर प्रयुक्त किया है। संत हरिदास ने भी अपनी कविता में इसी भावना को व्यक्त किया है।[3]

इस प्रकार इन संतों में अक्षर-ज्ञान के विरुद्ध लिखने का अर्थ भी हम उनकी पाखंडी आचार्य लोगों के प्रति व्यंग्य का भाव प्रकट करना ही समझते हैं। कबीरदास जी का यह लिखने से केवल इतना ही तात्पर्य प्रतीत होता है कि केवल

---

१. हौं पंडितन केर पछलगा।—(जायसी ग्रन्थावली-पृ० ६, चौ० २३)

२. मसि बिनु दास कलम बिनु अच्छर सुधि होई।—(बी० श० १६)

३. (१) जन हरीदास अवगति अगम, जहाँ भ्रांति नहिं छोति।
हम बात तहाँ की लिखत हैं, बिन लेखणि बिन दोति॥

(२) मसि कागद पहुँचे नहीं, अगम ठौड है सोइ।
जन हरीदास ऐसी कथा, समझै बिरला कोई॥

शब्द-ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त नहीं होता। पढ़ना लिखना ब्रह्म-ज्ञान से सर्वथा पृथक् है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि कबीरदास का जो साहित्य उपलब्ध है वह उन्होंने अपने हाथ से नहीं लिखा होगा। जब-जब उन्होंने अपने भावों को व्यक्त किया, उनके शिष्यों ने उसे लिपिबद्ध कर लिया होगा। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा मान लेने का भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण हमारे पास उपलब्ध नहीं। ऐसी दशा में जो सबसे प्राचीन पुस्तकें उपलब्ध हैं उन्हीं को हम मान्य मानकर कबीर की रचनाओं पर विचार करेंगे।

प्राप्य पुस्तकें

वास्तव में कबीरदास जी का जीवन-वृत्त जितना अनिश्चित है उनकी रचनाओं के विषय में भी विद्वानों में उतना ही मतभेद है। नागरी प्रचारिणी सभा ने आपके ग्रंथों के विषय में जो खोज की है उसके आधार पर आपके ग्रंथों की संख्या ६१ है। पुस्तकों के विषय को ध्यान में रखते हुए यह ग्रंथ इस प्रकार विभाजित किये जा सकते हैं—

१. योगाभ्यास—(१) अगाध मङ्गल, (२) कायापञ्जी, (३) श्वासगुञ्जार।

२. साधु संतों की महिमा—(१) छप्पय कबीर का, (२) सत्संग को अङ्ग, (३) साधो को अङ्ग, (४) नाम महातम।

३. आध्यात्मिक ज्ञानोपदेश—(१) अमरमूल, (२) अनुरागसागर, (३) अक्षर-खण्ड की रमैनी, (४) अलिफनामा, (५) अक्षर भेद की रमैनी, (६) उग्र ज्ञान मूल सिद्धान्त दश मात्रा, (७) कबीर जी की साखी, (८) कबीर की बानी, (९) कर्म-काण्ड की रमैनी, (१०) कबीर परिचय की साखी, (११) चौका पर की रमैनी, (१२) चौंतीसा कबीर का, (१३) जन्म बोध, (१४) तीसा जन्त्र, (१५) पिय पहचानवे को अङ्ग, (१६) बारामासी, (१७) [illegible], (१८) बीजक, (१९) भक्ति का अङ्ग, (२०) [illegible], (२१) रमैनी, (२२) मङ्गल शब्द, (२३) रेखता (२४) [illegible], (२५) [illegible], (२६) शब्द [illegible], (२७) शब्दराग काफी और राग फगुआ, (२८) शब्दराग गौरी और राग भैरव, (२९) [illegible], (३०) [illegible], (३१) सतनामा, (३२) [illegible], (३३) [illegible], (३४) [illegible], (३५) [illegible], (३६) [illegible], (३७) [illegible], (३८) [illegible], (३९) [illegible]।

४. विनय—(१) [illegible], (२) [illegible], (३) सुमार

आदि ग्रन्थ—पद् २२८ (रागु १६), (सलोकु २३८)।

बीजक—(रमैनी ८४), शब्द (११५), (अन्य पद ३४), (साखी ३५३)।

कबीर की भाषा

कबीरदास ने अपनी भाषा के विषय में कहा है, *"भाषा मेरी पूर्वी"* परन्तु इतना भर जान लेने से काम नहीं चलता। अहमदशाह के मतानुसार कबीर की बोली बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर के आस-पास में बोली जाने वाली हिन्दी है। आप इसे भोजपुरी का ही एक रूप मानते हैं। परन्तु बीजक में कहीं पर भी हमें भोजपुरी नहीं दिखलाई देती। कबीर की भाषा को हमारे विचार से किसी सीमा विशेष से बाँधना सर्वथा भ्रम है। आप की भाषा में हमें कई प्रकार की प्रचलित भाषा तथा बोलियों के शब्दों का सम्मिश्रण दिखलाई देता है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने इस भाषा को सधुक्कड़ी कहकर संतोष कर लिया। सधुक्कड़ी का अर्थ हुआ साधुओं की मिली-जुली भाषा, जिसमें न तो कोई भाषा का ही प्रतिबन्ध है और न प्रदेश विशेष का ही। यह भाषा मूल रूप से हिन्दी ही है परन्तु उस पर प्रादेशिक भाषाओं का प्रभाव भी कम नहीं है। आदि ग्रन्थ से लिये गए पदों पर स्पष्ट रूप से पंजाबी का प्रभाव है। इसका प्रधान कारण यही है कि कबीर की वाणी ने उनके भक्तों के अनुरूप ही अपना स्वरूप बनाया है और क्योंकि पंजाब, राजस्थान और उत्तर प्रदेश तीनों ही स्थानों पर उनके शिष्य रहते थे इसीलिए प्रधान रूप से उनकी रचनाओं में राजस्थानी, पंजाबी और पूर्वी हिन्दी का स्वरूप दिखलाई देता है।

कबीर की भाषा के विषय में डा० राम रतन भटनागर ने निम्नलिखित प्रयोग दिये हैं—

"१. परम्पराग्रहीत शब्दों और प्राचीन क्रिया-रूपों के कारण यह भाषा आज कुछ जटिल जान पड़ती है।

२. इसमें बोलचाल की भाषा, मुहावरों, विश्रृङ्खल वाक्य प्रयोगों और श्लेष का प्रयोग हुआ है, इससे परिस्थिति और भी कठिन हो गई है।

३. कबीर ने कितने ही ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो आज प्रचलित नहीं हैं या दूसरे अर्थों में प्रचलित हैं।

४. कबीर अपनी भाषा में व्याकरण पर ध्यान नहीं देते।

५. उनकी भाषा में फ़ारसी, अरबी और तुर्की के शब्द तद्भव और तत्सम रूपों में आये हैं। अकेले बीजक में २००-२५० विदेशी शब्द हैं।

६. जनता की भाषा होने के कारण वह ऊबड़-खाबड़ है और उसमें नागरिकता का अभाव है।

७. उस समय तक हिन्दी में अधिक नहीं लिखा गया था। यही नहीं पंडित-

समाज लोक-भाषा में रचना करने का विरोधी था। कबीर तुलसीदास आदि को इस विरोध का सामना करना पड़ा और अपनी भाषा आप गढ़नी पड़ी। तुलसी पण्डित थे, अतः उन्होंने लोक-भाषा और संस्कृत का अत्यन्त सुन्दर गठबंधन किया। कबीर संस्कृत से अनभिज्ञ थे, उन्होंने लोक-भाषा को ही अपना माध्यम बनाया। भाषा के परिष्कार की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी।"

उक्त कथन का समर्थन कबीर-ग्रंथावली की प्रस्तावना में भी मिलता है, "कबीर में केवल शब्द ही नहीं, क्रिया-पद कारक चिह्नादि भी कई भाषाओं के मिलते हैं। क्रियापदों के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं। कारक चिन्हों में 'से, कैं, सन, सा' आदि अवधी के हैं 'कौ' ब्रज का है और 'थैं' राजस्थानी का। यद्यपि उन्होंने स्वयं कहा है—'*मेरी बोली पूरबी*' तथापि खड़ी, ब्रज, राजस्थानी, पंजाबी, अरबी, फारसी आदि अनेकों भाषाओं की पुट भी उनकी उक्तियों पर चढ़ी हुई है। 'पूरबी' से उनका क्या तात्पर्य है यह नहीं कह सकते। उनका बनारस-निवास पूरबी से अवधी का अर्थ लेने के पक्ष में है, परन्तु उनकी रचना में बिहारी का भी पर्याप्त मेल है। यहाँ तक कि मृत्यु के समय मगहर में उन्होंने जो पद कहा है उसमें मैथिली का भी कुछ संसर्ग दिखलाई देता है। यदि बोली का अर्थ मातृ-भाषा लें और 'पूरबी' का बिहारी तो कबीर के जन्म के विषय पर एक नया ही प्रकाश पड़ जाता है। उनका अपना अर्थ जो कुछ भी हो, पर पाई जाती हैं उनमें अवधी और बिहारी दोनों ही बोलियाँ।"

उक्त कथन के समर्थन में कबीर की रचनाओं में से अनेकों उदाहरण[1] प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कबीर की बानी में खड़ी बोली, ब्रज, अवधी और

---

१. खड़ी बोली—

(१) एक अचम्भा ऐसा भया।—(बानी पद २२६)

(२) आऊंगा न जाऊंगा मरूंगा न जीऊंगा।
गुरु के सबद में रमि-रमि रहूंगा॥—(बानी पद ३३१)

ब्रज भाषा—

(३) लेट्यो भोमि बहुत पछितान्यौ।—(बानी पद ६७)

अवधी बोली—

(४) जस तू तस तोहि कोई न जान।—(बानी पद ४७)

राजस्थानी—

(५) बीछड़ियाँ मिलियौ नहीं।—(बानी सा० १२।६)

(६) क्या जाणौं उस पीव कूं, कैसे रहसी रङ्ग।—(बानी सा० ११।१६)

राजस्थानी के अनेकों प्रयोग भरे पड़े हैं। बिहारी (भोजपुरी) के उदाहरण कबीर-ग्रन्थावली में बहुत कम हैं परन्तु हैं अवश्य [१]। अरबी, फारसी के शब्दों की भी कमी नहीं है परन्तु उनका विशेष रूप से उन्हीं मुसलमानी धर्म विषयक रूढ़ि शब्दों के लिए प्रयोग किया गया है जिन्हें बदला भी नहीं जा सकता था। काजी, हलाल, जुलम, दफ़तर, जिबहै, खालिक़, शेख, सबूरी, काबै, बिसमिल, रोजा, निवाज, सुनति, मस्जिद, रहीम, खलक, दोजग इत्यादि शब्दों के प्रयोग आपकी कविता में खोजने पर अनेकों स्थानों पर मिल जाएँगे। [२]

इस प्रकार हमने कबीर की भाषा में यों तो खड़ी, राजस्थानी, व्रज, पंजाबी, भोजपुरी, अवधी, अरबी तथा फारसी के रूपों का प्रसार पाया है परन्तु इन सबमें प्रधानता राजस्थानी को मिलती है। सम्भवतः इसी मिश्रण के कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को सधुक्कड़ी भाषा का नामकरण करना पड़ा होगा।

मिश्रित भाषा होने के कारण

कबीर की रचनाओं में विविध भाषाओं का यह सम्मिश्रण देखकर विद्वानों को संदेह होने लगता है कि क्या यह इस प्रकार कई भाषाओं के शब्दों से युक्त भाषा एक ही व्यक्ति की हो सकती है? प्रश्न कुछ युक्तिसंगत भी है और कबीर की रचनाओं के विषय में ऐतिहासिक प्रमाणों की कमी होने पर तो यह संदेह और भी दृढ़ हो जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि यह मिश्रण हो सकता है विविध संतों के हाथों में से कबीर की रचनाओं के गुजरने के कारण हुआ हो और यह अन्तर उनमें कालान्तर में आगया हो, परन्तु हमारा मत इसके सर्वथा विपरीत है। इसके विपरीत मत देते हुए हमारा यह निश्चय नहीं है कि कबीर के नाम से मिलने और कहे जाने वाले १७५ ग्रन्थ उन्हीं के लिखे हुए हैं और उनमें कुछ भी प्रक्षिप्त हो नहीं सकता, परन्तु यह निश्चय ही है कि यदि कबीर ने कोई रचना की होगी तो

---

१. भोजपुरी—

त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल तब हमरो नांउ रामराई हो।
(बानी पद ४०)

२. (१) दिन भर रोजा रहत है, राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बन्दगी, कैसे खुसी खुदाय,—(हिन्दी साहित्य का इतिहास —रामचन्द्र, शुक्ल पृ० ७८)

(२) बन्दे तोहि बन्दिगी सों काम, हरि बिन जानि और हराम।
—(कबीर हजारीप्रसाद, २४१)

(३) तुरुक रोजा-नीमाज गुजारैं, बिसमिल बाँग पुकारें—(कबी० ह० २४०)

(४) बंदे खोज दिल हर रोज, ना फिर परेसानी माहि—(कबीरह० २४२)

वह कभी भी भाषा के पचड़े में नहीं पड़े होंगे और जो शब्द भी उनके मुख में आये होंगे उन्हें भावों और अर्थ की अनुकूलता को विचार कर ही उन्होंने प्रयोग कर दिया होगा। आचार्यत्व या पांडित्य के लिए उन्होंने भाषा का प्रयोग नहीं किया। एक संत होने के नाते देश के विविध भागों की भाषाओं से उनकी वाणी प्रभावित हुई होगी, यह कुछ कठिन बात नहीं; और इसी का प्रभाव हमें उनकी रचनाओं में स्पष्ट दीखता है। उनकी भाषा में विविध भाषाओं और बोलियों के शब्दों का प्रयोग देखकर जहाँ डा० रामकुमार जी उनके विषय में—"भाषा बहुत अपरिष्कृत है। उसमें कोई विशेष सौंदर्य नहीं है।" यह लिख सकते हैं तो यह लिखने वाले भी हिन्दी में उपलब्ध हैं—"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रगट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकथ कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। असीम अनन्त ब्रह्मानंद में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर,—पकड़ में न आ सकने वाली ही बात है। पर, 'बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा सोय।' में न केवल उस गम्भीर निगूढ़ तत्त्व को मूर्तिमान कर दिया गया है, बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृति की मोहर भी मारदी गई है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य रसिक काव्यानंद का आस्वाद कराने वाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।"

—(आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—कबीर)

हम तो कबीर की भाषा में इन विविध शब्दों के मुक्त प्रयोग को कवि की स्वच्छन्द प्रकृति और फक्कड़पन ही मानते हैं। कवि ने अपने भावों और विचारों को सही-सही व्यक्त करनेवाले शब्दों का प्रयोग बिना किसी प्रतिबन्ध के किया है। इसलिए यह प्रयोग कभी भी यह प्रकट नहीं करते कि इस प्रकार का प्रयोग विविध शिष्यों की व्यवहृत भाषाओं के कारण हुआ है; हो सकता है, इसमें भी कोई संदेह नहीं।

सधुक्कड़ी भाषा का कबीर की वाणी पर नाथ पंथियों द्वारा प्रभाव पड़ा मालूम देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इस ओर संकेत[1],

---

१. "कबीर आदि संतों की नाथ-पंथियों से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले उसी प्रकार 'साखी' और 'बानी' के लिए बहुत कुछ सामग्री और सधुक्कड़ी भाषा भी।"

—(हिंदी साहित्य का इतिहास— पृ० २६)

किया है। परन्तु कबीर की भाषा को सही तरीके से देखने पर पता चलता है कि उसमें एक स्थायित्व था और वह किसी भी प्रकार कृत्रिम भाषा नहीं है। उस काल में भी यह बिहार से गुजरात तक और पंजाब से दक्षिण तक बोली जाती थी। इस लिए कबीर ने इसे ही अपने विचारों के प्रदर्शन के लिए अपनाया। यह भाषा आचार्यों की भाषा की अपेक्षा जन-साधारण की बोलियों के अधिक निकट थी, इस लिए हम इसे उस समय की सामान्य भाषा के रूप में भी स्वीकार कर सकते हैं। इस लिए यहाँ हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि कबीर की भाषा में बहुत सी भाषाओं तथा बोलियों के शब्द होने पर भी यह मिश्रित भाषा न होकर सामान्य भाषा ही है। कबीर की भाषा रूढ़ काव्य-भाषा तो हो ही नहीं सकती थी, परन्तु भाषा के साधारण नियमों का उल्लंघन भी हम उसमें नहीं देखते।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार यदि हम सधुक्कड़ी भाषा को ब्रज, खड़ी और पंजाबी के मेल से बनी भाषा मानलें तो कबीर की भाषा इसके अंतर्गत नहीं आती। कबीर की भाषा में हमें खड़ी और राजस्थानी का पूर्व रूप मिलता है। 'बानी' में राजस्थानी, ग्रन्थ साहब में पंजाबी और बीजक में पूर्वी की मात्रा अधिक होने पर भी सामान्य रूप से सभी भाषाओं का प्रभाव सब पर है। परंतु भाषा की जो मूलधारा है वह अविच्छिन्न है, उसके प्रवाह में कोई अंतर नहीं आता।

अन्य भाषाओं के पद

कबीर की रचनाओं के मध्य कुछ पद दूसरी भाषाओं के[1] भी मिलते हैं। विशेष रूप से यह फारसी, पंजाबी, राजस्थानी और पूर्वी के हैं। मौजी कवि कबीर

---

१. (१) राजस्थानी—

पेवकड़े दिन चारि है साहुरड़े जाणा।
अन्धा लोक न जाणई मूरखु एआणा॥

(२) पूर्वी—

दाँत गयल मोर पान खात, केस गयल मोर गंग नहात।
—(सं० क०, मा० ८)

(३) फारसी—

रे दिल खोजि दिलहर खोजि ना परि परेसानी माहिं।
महल माल अजीज औरति कोई दस्तगीरी क्यूं नाहिं॥
पीराँ मुरीदाँ काजियां मुल्लां अरु दरवेस।
कहाँ थैं तुम किनि किये, अकल है सब नेस॥
—(बानी २४७)

ने अपने अल्हड़पन में इनकी रचना की होगी। इन्हें प्रक्षिप्त मानने की बात हमारी समझ में नहीं आती। यह भी हो सकता है कि भिन्न-भिन्न प्रांतों के शिष्यों के अनुरोध पर कुछ पदों का कवि ने उनकी भाषा में गान किया हो और हिंदी फारसी तथा अन्य भाषाओं को मिलाकर रचना करने की तो इस काल में प्रवृत्ति इमें पुस्तक में मिलती है। विद्यापति ने भी अपनी कविताओं में भी यत्र-तत्र अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है और यह प्रयोग हमें तुलसी तथा सूर की कविता में भी मिलता है। केवल प्रश्न कम और अधिक का है।

शुद्ध पाठ

ऊपर हम कबीर की भाषा का अध्ययन कर चुके हैं। अब हमें कबीर की रचनाओं की पांडुलिपियों के पाठ पर ध्यान देना है। इन पुस्तकों के सम्पादन में जो सबसे बड़ी कठिनाई है वह यही है कि जितनी भी प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनके पाठों में बड़ा भारी अंतर है। इनमें मिलने वाले पदों की संख्या भी न्यूनाधिक है। इस के अतिरिक्त उनमें न केवल साधारण पाठ-भेद ही हैं वरन् पंक्तियों के क्रम में भी भेद है।[1] इसलिए अच्छा यही है कि पृथक् रूप से इन प्रतियों का सम्पादन किया

1. (क० ग्रं० पद १२३)

हरि बिन भरम बिगूते गन्दा।
जापैं जाऊँ आपनपौं छुड़ावण ते बीधे बहु फंधा॥
जोगी कहै जोग सिधि नीकी और न दूजी भाई।
लुंचित, मुंडित, मोनि, जटाधर ऐ जु कहैं सिधि पाई॥
जहां का उपज्या तहां बिलाना हरि पद बिसरया जबहीं।
पंडित गुनी सूर कवि दाता ऐ जु कहैं बड़ हमहीं॥
वार पार की खबरि न जानी फिरयौ सकल बन ऐसैं।
यहु मन बोहिथ के कऊवा ज्यूं रह्यौ ठग्यौ सो बैसैं॥
तजि बांवें दांहिणें बिकार हरिपद दिढ़ करि गहिए।
कहै कबीर गूंगैं गुड़ खाया बूझै तौ का कहिए॥

(सं० क० गउड़ी ४१)

जोगी कहहि जोग भल मीठा अवरु न दूजा भाई।
रुंडित 'मुंडित' एकै सबदी एक कहहि सिधि पाई॥
हरि बिनु भरमि भुलाने अंधा।
जापहि जाउ आपु छुटकावनि ते बांधे बहु फंधा॥ १॥
जह ते उपजे तही समानी इहि बिधि बिसरी तबही।
पंडित गुणी सूर हम दाते एहि कहहि बड हमही॥२॥

जाय। सम्पादन का अर्थ मूल पुस्तक की त्रुटियों को निकाल देना या उनकी भाषा को अपने विचार से बदल देना कदापि नहीं है। लिपि की भूलों के कारण कुछ उत्पन्न होने वाले भ्रमों को दूर करने के लिए सम्पादक अपने विचारानुकूल पृथक से संकेत दे सकता है। मूल पाठ में संशोधन या परिवर्तन का अधिकार सम्पादक को नहीं है। बानी आदि ग्रन्थ और बीजक में आदि ग्रन्थ को ही सब से शुद्ध इसी लिए माना जाता है कि सिक्ख लोग अपने ग्रन्थ के पाठ की शुद्धता पर विशेष ध्यान देते हैं। इस ग्रन्थ का सबसे अच्छा संस्करण सर्व हिन्द सिक्ख मिशन (अमृतसर) ने किया है। कबीर ग्रन्थावली में बानी के पाठ का सम्पादन सुन्दर ढंग से हुआ है। इसकी दोनों हस्तलिखित प्रतियाँ भी काशी नागरी-प्रचारिणी सभा में उपलब्ध हैं।

उक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी कबीरदास जी ने अनेकों पद स्थान-स्थान और समय-समय पर कहे होंगे और वह वहां पर उनके भक्तों द्वारा अपने ग्रन्थों में संग्रहीत कर दिए गए होंगे परन्तु उन्हें प्रक्षिप्त रचनाओं से पृथक करने का कोई उपाय हमारे पास नहीं है। उक्त तीन ग्रंथों की भाषा, रचना-क्रम, भाव-विकास, विचार-धारा इत्यादि के आधार पर यदि कोई कसौटी बनाकर अन्य ग्रन्थों की छान-बीन कुछ विद्वान मिल कर करें तो कोई कारण नहीं कि उक्त कथित १७५ ग्रंथों में से कबीरदास जी के कुछ और पदों को न खोज निकालें।

पाठान्तर

सम्पादक को जहाँ तक सम्भव हो प्राचीनतम प्रति के पाठ में अन्तर करने का अधिकार नहीं है परन्तु यदि वह पाठ इतना भ्रामक है कि उससे अर्थ

जिसहि बुझाए सोई बूझै बिनु बूझै किउ रहीऐ।
सति गुरु मिलै अंधेरा चूकै इन बिधि माणकु लहीऐ ॥२
तजि बावे दाहने बिकारा हरिपदु द्रिड़ु करि रहीऐ।
कहु कबीर गूंगै गुड़ु खाइआ पूछे ते किआ कहीऐ ॥

(बीजक श० ३८)

हरि बिनु भरम बिगुरचै गन्दा।
जहँ-जहँ गयो अपनपौ खोयो तेहि फन्दे बहु फन्दा ॥
जोगी कहै जोग है नीको दुतिया अवर न भाई।
चुंडित, मुंडित 'मौनि' जटाधर तिनहुं कहां सिधि पाई ॥
ज्ञानी गुनी सूर कवि दाता ई जो कहहिं बड़ हमहीं।
जहँइ से उपजे तहँइ समाने घट गयल सम तबही ॥
बाँये दाहिने तजो बिकारा निजु कै हरिपर गहिया।
कहहिं कबीर गूंगे गुर खाया पूछे से का कहिया ॥

भ्रष्ट हो रहा है और सम्पादक को यह प्रतीत होता है कि यह लिपि-भेद के कारण हुआ है तो अर्थ की रक्षा के लिए उसे पाठान्तर करने का भी अधिकार है। कवि के अर्थ को पाठकों तक सही रूप में पहुँचाने की जिम्मेदारी सम्पादक पर होती है। लिपि की भूलें प्रतिलिपियों में ही नहीं वरन् मूल पुस्तकों में भी हो सकती हैं। नीचे कुछ पाठान्तरों की सूची हम "कबीर साहित्य का अध्ययन" पुस्तक से प्रस्तुत करते हैं—

मूल	पाठान्तर
१. बानी पद ६— सारंग श्रीरंग धार रे।	गुटका १८५५—सारंग श्री रंगधार रे।
२. बानी पद १३—चूल्हैं अगनि बताइ करि।	,, —चूल्हैं अगिन जलाइ करि।
३. बानी पद ३८५— कहि कबीर उबरे द्वै तीनि,	,, —कहि कबीर उबरे हैं दीन।
४. बानी पद ३५६—बन्दे ऊपरि मिहर करो मेरे साई।	

बी० श० ६७—जिन्ह पर मेहर होहु तुम साँई।

—(पूरनदास)

जन पर मेहर होहु तुम साँई

—(विचारदास)

उक्त प्रकार के पाठान्तर हमें कबीरदास जी की प्रकाशित पुस्तकों में मिलते हैं, जिनमें कहीं कहीं पर तो पाठान्तरों के कारण मूल अर्थ को समझने में सहायता अवश्य मिलती है परन्तु बहुत से स्थानों पर तो इन पाठान्तरों से अर्थ में बहुत बड़ा भेद उत्पन्न हो गया है। कबीरदास जी की रचनाओं का सम्पादन करने के लिए उनकी भाषा का पूर्ण ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है।

संक्षिप्त

१. कबीरदास के नाम से जितने भी ग्रन्थों की संख्या उपलब्ध है उन पर विद्वानों में बहुत बड़ा मतभेद है।

२. कबीर की रचनाएँ प्रायः सभी ऐसी हैं जिन्हें लिखने के लिए वह कलम दवात लेकर नहीं बैठे। सभी शिष्यों द्वारा लिखी गई हैं।

३. इन रचनाओं में प्रक्षिप्त अंश कितना है इसका ठीक से निर्णय नहीं किया जा सकता है।

४. कबीर-ग्रंथावली जो उनकी बानी के आधार पर सम्पादित है, कही जाती है उनकी प्राचीनतम रचना है।

५. इन ग्रंथों की भाषा में बहुत अंतर है और रामचंद्र शुक्ल जी के

मतानुसार यह सधुक्कड़ी भाषा है जिसमें पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी, पूर्वी इत्यादि सभी की झलक मिलती है।

६. आज कबीर की रचनाओं से प्रक्षिप्त अंशों को खोज निकालना ऐतिहासिक और आंतरिक सामग्री तथा साधनों की शक्ति-सीमा का उलंघन कर चुकी है। इसलिए जो कुछ भी निर्णय अनुमान से और साधनों के आधार पर हुए हैं; उन्हीं पर संतोष किया जाता है।

७. अधिक प्रामाणिक रूप से कम-से-कम यह कहा जा सकता है कि कबीर की बानी, आदि ग्रन्थ और बीजक कबीरदास के अपने ग्रंथ हैं परन्तु इनमें प्रक्षित अंश बिलकुल नहीं है यह कहना कठिन है।

८. कबीर की भाषा में भोजपुरी, अवधी, ब्रज, राजस्थानी, पजाबी, उर्दू, फ़ारसी और अरबी के शब्दों का मुख्य रूप से प्रयोग मिलता है।

९. कबीर ने आचार्यों की भाषा का प्रयोग न करके साधारण जनता की बोल-चाल की भाषा में ही अपने विचारों को प्रकट किया है।

१०. कबीर की भाषा में इतना बल है कि वह अपने गूढ़-से-गूढ़ विचार का भी चित्र खींचने में सफल हो सकी है।

११. कबीर की रचनाओं में कुछ पद पृथक रूप से अन्य भाषाओं के भी मिलते हैं।

१२. कबीर की रचनाओं की जितनी भी प्रतियाँ मिलती हैं उनके पाठों में बहुत अन्तर है।

१३. पाठों का अंतर कुछ तो मूल प्रतियों में है और कुछ सम्पादकों की मेहरबानी है जिसके फल स्वरूप कहीं पर अर्थ स्पष्ट हुआ है तो कहीं-कहीं पर वह भ्रामक भी बन गया है।

अध्याय ४

कबीर की रचनाओं में साहित्यिक अभिव्यक्ति

किसी भी रचना में साहित्यिक अभिव्यक्ति की खोज करने के लिए हमें कुछ नियम निर्धारित करने होते हैं। साहित्य के पाश्चात्य आचार्यों ने साहित्य के चार प्रधान तत्व माने हैं और जिस रचना में यह तत्व न्यूनाधिक रूप से पाये जाते हैं वह रचना उसी प्रकार साहित्य में स्थान पाती चली जाती है। यह चार तत्व बौद्धिकता, भावनात्मकता, कला और शैली हैं। इनमें से यदि चारों का ही समन्वय करके कोई साहित्यकार अपना मार्ग निर्धारित कर सके तो उसके तो कहने ही क्या हैं, परन्तु देखा ऐसा गया है कि कुछ लोग यदि भावनात्मकता को प्रधानता देते हैं तो दूसरे विचारात्मकता को ही सिर चढ़ाना पसन्द करते हैं। इसी प्रकार कल्पना और शैली को प्रधानता देने वाले आचार्यों ने भी साहित्य में जन्म लिया है।

भारतीय आचार्यों में किसी आचार्य ने ध्वनि से गठबन्धन किया है तो दूसरा अलंकार को ही काव्य मानकर चलने का प्रयास करता है। परन्तु अन्तिम निर्णय के आधार पर रस की प्रधानता ही काव्य का सबसे बड़ा गुण माना गया है। हमारे विचार से काव्य वह आनन्द दायक रचना है जो जीवन में उत्साह, स्फूर्ति और जीवन को प्रेरणा प्रदान करे। काव्य ललित और मृदुल पदों तथा शब्दों से भरा पुरा होना चाहिए। शब्द और अर्थ दोनों का ही सुन्दर सौष्ठव काव्य को उच्च कोटि की रचना घोषित करा सकता है। साथ ही वह इतना क्लिष्ट भी नहीं होना चाहिए कि पाठकों को समझने में ही कठिनाई होने लगे। यह रचना युक्ति से पूर्ण होनी आवश्यक है। उचित गुणों का उसमें समावेश होना चाहिए और इस प्रकार उसमें भावना, विचार और कल्पना का सुन्दर समन्वय करके उसे रचना-तत्व की आधार-शिला पर स्थापित कर देना चाहिए।

बुद्धि-तत्व

कबीरदास जी की रचनाओं का निरीक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रचनाओं में बुद्धि-तत्व की प्रधानता है। इस ओर हम पीछे भी संक्षेप में संकेत कर चुके हैं। परन्तु आपका बुद्धि-तत्व शुष्क और नीरस तर्कवाद का

आश्रय लेकर नहीं चलता । वह तो कवि की स्वाभाविक उक्तियों और भावनाओं को ही आश्रय मान कर खड़ा होता है । आत्मा और परमात्मा के सम्बंधों का सूक्ष्म चित्रण आपने सरल-से-सरल भाषा में किया है, जिसमें सुन्दर भावमयी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है । आपके काव्य में अलौकिक आनंद की छटा नृत्य करती हुई दिखलाई देती है और आत्मा को आनंदित करने वाली वह रसमयी शैली मिलती है कि जिसे पढ़कर हृदय प्रेमविभोर हो उठता है ।

जहाँ तक ज्ञान-तत्व का सम्बंध है वहाँ तक तो हम कबीर को हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में सबसे ऊँचा आसन निरसंकोच भाव से प्रदान कर सकते हैं ।[1] आध्यात्मिक तत्वों का आपसे सरस, सरल और भाव पूर्ण चित्रण तथा विश्लेषण अभी तक कोई अन्य कवि नहीं कर पाया । ब्रह्म, जीव, प्रकृति, माया को लेकर आपने अनेकों पदों की रचना की है जिनमें बुद्धि-तत्व की ही प्रधानता पाई जाती है । आपने तो बुद्धि की कसौटी पर ही भावना को कसा है और जितनी भी प्राचीन रूढ़ियाँ आपके सम्मुख आई हैं उनका खरा या खोटेपन का भी निर्णय आपने बुद्धि के ही आधार पर किया है ।

कबीरदासजी के भक्तों में भक्तिमार्गी और ज्ञानमार्गी दोनों ही प्रकार के संत मिलते हैं । रामानंदजी के शिष्य होने पर भी आपने भक्ति को नेत्र बंद करके रूढ़िवादी ढंग से नहीं अपनाया । आपने भक्ति की उन्हीं भावनाओं को अपनाया है कि जिन्हें समझने में उनकी बुद्धि ने उन्हें समर्थन प्रदान किया है । इस प्रकार कबीर की कविताओं में ज्ञानात्मकता को विशेष प्रश्रय मिला है । और यह

---

१. ज्ञान सम्बन्धी—

(१) कबीर पाणी केरा-पूतला, राख्या पवन सँवारि ।
नांनां बांणी बोलिया, जोति धरी करतारि ॥

(२) झिरिमिरि झिरिमिरि बरषिया, पांहण ऊपरि मेह ।
माटी गलि सैंजल भई, पांहण वोही तेह ॥
—(कबीर-वचनामृत, पृष्ठ २३०)

(३) जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान ।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥
हस्ती चढ़िए ज्ञान कौ, सहज दुलीचा डारि ।
स्वान रूप संसार है, भूँकन दे झक मारि ॥

(४) विशिष्टाद्वैतवाद—
मेरे संगी दोई जणां, एक वैष्णौं एक राम ।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम ॥

इस प्रकार हमने देखा कि कबीर विचार-प्रधान कवि होने पर भी भावना के क्षेत्र में कुछ पीछे नहीं हैं। आध्यात्मिक विचारों की पृष्ठभूमि पर भावना ने के ऐसे सुनहले चित्र अंकित कर देना इसी कलाकार का काम था।

कल्पना-तत्व

कबीर की कविता में जहाँ तक कल्पना-तत्व का सम्बंध है वह रूपक और उपमा अलंकारों में स्वयँ ही आकर उपस्थित हो जाता है। यों व्यर्थ के लिए कल्पना के पीछे लम्बी-लम्बी उड़ानें भरना उनका लक्ष्य नहीं रहा परंतु उन्होंने तो अपने साहित्य के निरूपण में विषय ही वह लिया है कि जिसकी कल्पना मात्र ही की जा सकती है। आँखों से देखने के पश्चात् तो फिर उसका निरूपण करने के लिए आना ही असम्भव है। और फिर जहाँ-जहाँ निर्गुणब्रह्म के निरूपण की बात है वहाँ तो प्रधान आश्रय ही कल्पना बन जाता है। कल्पना का स्वाभाविक विकास हमें कबीर की रचनाओं में मिलता है। कल्पना का एक चित्र देखिए —

बाग बगीच खिली फुलवारी
अमृत लहरें हो रहीं जारी
हंसा केल करत तहँ भारी
जहँ अनहद घूरे अपारा है।
ता मध अधर सिंहासन गाजे
पुरुष महा तहँ अधिक विराजे
कोटिन सूर रोम इक लाजे
ऐसा पुरुष दीदारा है।

—(कबीर, हजारी प्रसाद-पृष्ठ २७६-पद-७६)

पिया ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।
ऊँची अटरिया जरद किनरिया, लागी नाम की डोरी।
चाँद सुरज सम दियना बरतु है, ता बिच भूली डगरिया।
आठ मरातिब दस दरवाजा, नौ में लगी किवरिया।
खिरकी बैठ गोरी चितवन लागी, उपराँ झाँप झाँपरिया।

—(कबीर, हजारी प्रसाद-पृष्ठ ६५१-पद २२७)

इसी प्रकार माया, ब्रह्म और विविध आध्यात्मिक तत्वों का चित्रण कवि ने कल्पना के ही आधार पर किया है। कबीर की कल्पना बड़ी सलोनी है और जो चित्र आपने मधुर-रस प्रधान अंकित किये हैं उनमें तो कल्पना की छटा और

कबीर की भाषा पर पिछले तौर पर विचार करके विद्वानों ने उसके विषय में अनेकों भाषाओं का सम्मिश्रण-सा देखकर इधर-उधर के विचार भी प्रकट कर दिये हैं परंतु जिन विद्वानों ने कबीर का गहन अध्ययन किया है उन्होंने ही वास्तव में कबीर की भाषा और उस भाषा में संजोये हुए काव्य को परख पाया है। योग, साधना और रहस्यवाद को अपनी गोद में लेकर चलने वाली भाषा को छिछला और अव्यवस्थित कहना कुछ युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। कबीर की भाषा में वह वास्तविक सौन्दर्य है कि जिसके संरक्षण और लालन-पालन में सुन्दर-से-सुन्दर, कोमल-से-कोमल और तीखी-से-तीखी भावना तथा विचार पनप कर साहित्य की अमर देन बन गये हैं।

छन्द

कबीर ने अपनी कविता में प्रायः सधुक्कड़ी छन्दों का ही प्रयोग किया है। इसमें प्रमुख रूप से सबद, साखी, रमैनी, चौपाई और दोहा इत्यादि ही मिलते हैं। 'सबद' अधिकतर पदों और राग रागनियों के रूप में मिलते हैं। इन छंदों को छोड़कर कहरा, हिंडोला, बसन्त, चौंतीसी, विप्र मतीसी, बेलि, चाचर आदि भी बहुत से छंद पाये जाते हैं। इन छंदों का प्रयोग कवि ने स्वतन्त्रता पूर्वक किया है और अपने को किसी भी पिंगल के नियमों से नहीं बाँधा। मात्रा की अपेक्षा इन छंदों में कवि ने लय और गीत को ही प्रमुख रूप से ध्यान में रखा है। छंद की बन्दिशें उनके भावों के प्रसार और विचारों के प्रकाशन में प्रतिबन्ध बन जायँ यह वह सहन नहीं कर सकते थे। कबीर जैसे स्वतन्त्र प्रकृति के कवि के लिए प्रधानता भावना और विचार की थी छन्द-बद्धता की नहीं। आचार्यों की छन्द-बद्ध दुनियाँ में महाकवि का यह क्रांतिकारी प्रयास था जिसकी सराहना रीतिकाल में नहीं की जा सकती थी। उस काल में तो और उन्हें अपढ़ और अज्ञानी ही कहकर पुकारा जा सकता था। परंतु आज के युग में जब कविवर निराला के मुक्त छन्दों को अपनाने वाले विचारकों और विद्वानों ने भी जन्म लेना प्रारम्भ कर दिया है तो महाकवि कबीर की भाषा को उस काल में छन्दों के रूढ़िवादी बन्धनों से मुक्त कर देना अवश्य ही एक महान् श्रेयकर प्रयास था।

रस-प्रवाह

रस काव्य की आत्मा है, इस कठोर सत्य का यहाँ विवेचन करने की हम आवश्यकता नहीं समझते। यह आलोचना के सिद्धांतों का विषय है। यहाँ तो हमें केवल कबीर के साहित्य को रस की कसौटी पर परखना है। रस के विचार से हम कबीर के साहित्य को चार प्रधान भागों में विभाजित कर सकते हैं। १. शृङ्गार रस-पूर्ण उक्तियाँ, २. अद्भुत रस-युक्त उलट बाँसियाँ, ३. शान्त रस-पूर्ण उक्तियाँ

आध्यात्मिक विरह को व्यक्त करने के लिए कोई आध्यात्मिक भाषा विशेष तो होती नहीं। इसलिए कबीरदास जी ने लौकिक भाषा में ही रूपकों द्वारा इस संयोग और वियोग का सजीव चित्रण किया है। भक्त का हृदय भगवान् के विरह में उसी प्रकार तड़फता है जिस प्रकार प्रेमिका का हृदय प्रेमी के लिए बेचैन हो उठता है।

अद्भुत रस—स्थायी रूप से विस्मय जिन उक्तियों में पाया जाता है और आश्चर्यजनक बातों का वर्णन होता है वह उलटबासियाँ अधिकांश में अद्भुत रस युक्त होती हैं। इन उलटबासियों में अलौकिक और अदृश्य की बातों का वर्णन मिलता है। इस प्रकार की कविताएँ कबीर की अनेकों उपलब्ध हैं। [1] इन विचित्र प्रकार की कविताओं में कवि ने ईश्वर की अलौकिक शक्तियों का विस्तार के साथ वर्णन किया है।

शान्त रस—भक्ति-भावना से प्रेरित होकर जहाँ कबीरदास जी ने कुछ उक्तियाँ कही हैं वह शान्त रस पूर्ण है। भक्ति-भाव में जिस समय मन प्रवाहित होता है तो उसमें शांत रस तो आ ही जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी का मानस इस दिशा का हिन्दी में सबसे बड़ा उदाहरण है। भक्ति रस को मैं शान्त रस से प्रथक करके एक नया रस नहीं मानता। कबीर की वाणी में भक्ति का प्रवाह अग्रदूत के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। कबीरदास जी ने भक्ति का पाठ

---

(४) बहुत दिननन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाहीं बिस्राम॥
—(बा० सा० ३/६)

(५) बालहा आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे॥
सबको कहै तुम्हारी नारी मोको यहै अंदेह रे।
एकमेक ह्वो सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे॥
है कोई ऐसा पर उपगारी हरि सौं कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भए हैं बिन देखे जिव जाई रे।
—(ग्रा० प० २०७)

(६) दुलहनी गावहु मंगलचार।
तन रत करि मैं मन रत करिहूं पंच तत बराती।
राम देव मोरे पाहुन आए मैं जोवन मैंमाती॥

१. सात समंद की मसि करौं, लेखनि सब बनराइ।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिख्या न जाय॥
—(कबीर वचनामृत-साखी पृष्ठ १७८)

रामानन्द जी से उस समय सीखा जब भारत का धार्मिक वातावरण सिद्धों के शैव-धर्म से आच्छादित था, योगियों की काया-साधना का प्रपंच सीधी-साधी जनता में विस्तार के साथ फैल रहा था, सहजयानी सिद्धों का प्रभाव भी नष्ट नहीं हुआ था और कर्मकाण्डी पंडित, मुल्ले और काजी भी अपनी-अपनी तूतियाँ बजाने से नहीं चूकते थे। कबीर की इस भक्ति में भी ज्ञान की पुट विद्यमान है [1] और इसके उदाहरण तो उनकी रचनाओं में इधर उधर न जाने कितने बिखरे पड़े हैं।[2] इन पदों में शान्त रस की जो अनुभूति विद्यमान है वह साधारण कविता में भला कहाँ उपलब्ध हो सकती है।

कबीर की कविता में नश्वरता की ओर संकेत करने वाली रचनाओं की

---

(२) बिन पग चलना बिन पर उड़ना, बिना चूँच का चुगना।
बिन नैनन का देखन-पेखन, बिन सरवन का सुनना।
चन्द न सूर दिवस नहिं रजनी, तहाँ सुरत लौ लाई।
बिना अन्न अमृत-रस भोजन, बिन जल तृषा बुझाई।
तहाँ हरस तहँ पूरन सुख है, यह सुख कासों कहना।
कहै कबीर बल बल सतगुरु की, धन्य शिष्य का लहना।
—(कबीर, हजारीप्रसाद, पृष्ठ २५४ पद २७)

(३) ऐसा अद्भुत मेरे गुरि कथ्या में रह्या उभेषै।
मूसा हस्ती सौं लड़ै, कोई विरला पेखै।
मूसा बैठा बाम्बि में, लारै सापणि धाइ।
उलटि मूसै सापणि गिली यहु अचरज भाई।
चींटी परवत उपरायां ले राख्यो चौड़े।

(४) समन्दर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूखाँ चढ़ि गई॥
—(क० ग्रं० पृ० १४१)

१. करता दीसै कीरतन, ऊंचा करि करि तूंड।
जाणैं बूझै कुछ नहीं, यौंहीं अंधा रूंड॥

२. कबीर निरभै राम जपि, जब लगि दीवै बाति।
तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन रात॥

(१) हरि चरनं चित राखिये तौ अमरापुर होई।
माया मोहि मोहि हित कीन्हां
तार्थें मेरो ज्ञान ध्यान हरि लींहां।

(२) संसार ऐसा सुपिन जैसा, जीव न सुपिन समान।
साँच करि नरि गाँठ बांध्यौ, छांड़ि परम निधांन।

कमी नहीं है। इन सभी रचनाओं को हम शान्त रस के ही अन्तर्गत सुगमता से उठाकर रख सकते हैं।

विना रस की रचनाएँ—यह कबीर दास जी की वह रचनाएँ हैं कि जिनमें उन्होंने अपने आध्यात्मिक तत्वों का नीरस होकर केवल सुधारात्मक, उपदेशात्मक या यौगिक तत्वों के आधार पर सृजन किया है। आपकी रचनाओं का यह भाग ललित कला कहलाने वाले साहित्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता और उसके पढ़ने में पाठकों के हृदय में किसी रस का भी संचार नहीं होता।

अलंकारिक सौंदर्य

काव्य में अलंकारिक सौंदर्य की मान्यता को सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। अलंकार का अर्थ है उक्ति सौंदर्य। कबीर के साहित्य में अनायास ही बहुत प्रकार के अलंकार आगये हैं। रचनाओं के प्रवाह को देखने से पता चलता है कि कवि ने अलंकारो के प्रयोग का कोई प्रयास नहीं किया परन्तु फिर भी उसमें अलंकारों का निश्चित रूप से आ गये हैं। [1]

नैन नेह पतंग हुलसै, पसू न पेखै आगि।
करि विचार विकार परहरि, तिरण तारण सोई।
कहै कबीर-रघुनाथ भजि नर, दूजा नाहीं कोई॥

१. रूपक—

(१) नैनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डालि के, पिय को लिया रिझाय॥

(२) कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ।
अन्तरि भींगी आत्मा, हरी भई बणराइ॥

(३) पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुरु दाव बताया, खेलै दास कबीर॥

(४) चौपडि मांडी चौहटै, अरध उरध बाजार।
कहै कबीर राम जन, खेलै संत विचार॥

उपमा—

पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जाति।
एक दिन छिप जाहिंगे, तारे ज्यूं परिभात॥
—(क० ग्रं० पृ० ७३)

अनुप्रास—

सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुविचार।
सतगुरु के प्रसाद थैं, सहज सील मत सार॥

आपके साहित्य में स्वाभाविक अलंकारों की जो योजना स्वतः आई है उससे काव्य की प्रभावात्मकता में बहुत वृद्धि हुई है। आपकी साखियों में अलंकारिक सजावट का प्रयास नहीं के तुल्य ही है। कबीर ने अलंकारों को साध्य रूप में ग्रहण न करके स्वाभाविक सौंदर्य वृद्धि के साधन स्वरूप ग्रहण किया है। अज्ञात रूप से भाव के प्रभाव को बढ़ाने वाले अलंकार स्वतः काव्य में प्रस्फुटित हुए हैं। प्रधान रूप से आपके काव्य में उपमा और रूपक अलंकार देखने को मिलते हैं। कबीर के जैसे अनूठे रूपक हमें हिन्दी के अन्य कवियों की रचनाओं में कम प्राप्त होते हैं। आपके रूपकों और अलंकारों की विशेषता यह है कि वह परम्परागत न होकर अधिकांश से मौलिक होते हैं। सामान्य जीवन से उठकर कवि उन्हें अपनी वाणी से साकार चमत्कार प्रदान करता है।

उपमा और रूपक की प्रधानता के साथ आपके काव्य में उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, विभावना, लोकोक्ति, अर्थान्तरन्यास, दृष्टांत, काव्यलिंग इत्यादि अलंकार भी यत्रतत्र देखने को मिलते हैं। यहाँ तक रही अर्थालंकारों की बात। शब्दालंकारों में भाषा को बनाने बैठने की प्रवृत्ति कबीर जैसे फक्कड़ संत में भला कहाँ मिल सकती थी परन्तु, फिर भी अनायास ही अनुप्रास और यमक का प्रयोग रचनाओं में हुआ है। इस तरह कबीर की रचनाओं में यहाँ-वहाँ इन अलंकारो के आजाने से उनके स्वाभाविक प्रयोग ने रचनाओं को चार चाँद लगा दिये हैं।

काव्य-गुण सौंदर्य

काव्य-गुणों के विषय में आचार्यों का पारस्परिक मतभेद रहा है। गुणों

यमक—

सहर बेगम पुरा गम्म को ना लहै,
होय बेगम्म जो गम्म पावै।
गुना की गम्म ना अजब बिसराम है,
सैन जो लखै सोई सेन गावै।

विभावना—

बिन मुख खाइ चरन बिन चालै
बिन जिभ्या गुण गावै।
—(क० ग्रं० ८० १४०)

काव्यलिंग—

राम पियारा को छाँड़ि के, करै आन का जाप।
वेस्या केरा पूत ज्यूं, कहै कौन सूँ बाप॥
—(क० ग्रं० प्र० ६)

की संख्या के सम्बन्ध में भी भरत मुनि और वामन ने उन्हें १०, अग्नि पुराण में १६ तथा भोज ने २४ माना है। परन्तु आचार्य मम्मट ने सभी गुणों को प्रसाद, माधुर्य और ओज इन्ही तीन गुणों में सन्निहित कर दिया है। आपके मतानुसार गुण रस में उत्कर्ष तथा अचल स्थिति कायम रखने वाले तत्वों का नाम है।

कबीर की रचनाओं का अध्ययन करने पर उनमें हमें प्रसाद और माधुर्य की प्रधानता मिलती है। ओज गुण का आपकी रचनाओं में अभाव है।

प्रसाद गुण—आपकी वह रचनाएँ जिनमें आपने उपदेशात्मकता को प्रधानता दी है या जिनमें सुधारत्मक प्रवृत्ति पाई जाती है, प्रसाद गुण से पूर्ण हैं। यह उक्तियाँ अपने प्रधानतया खड़ी बोली में ही कही हैं। इस प्रकार की रचनओं में कवि की भाषा बहुत सरल, स्पष्ट और साफ़-सुथरी है। न तो व्यर्थ के अलंकारों को ही ठूंस-ठाँस है और जो उदाहरण, उपमा, दृष्टान्त इत्यादि छड़े छीदे अलंकार आ भी गये हैं तो उनसे भाषा की प्रसादात्मकता [1] को और प्रश्रय ही मिलता है।

माधुर्य-गुण—कबीर की रहस्यवादी रचनाओं में माधुर्य विशेष रूप से पाया जाता है। जैसा कि हम ऊपर भी कह चुके हैं कबीर ने आत्मा और परमात्मा के मिलन को लेकर संयोग और वियोग के दोनों पक्षों का बहुत सजीव चित्रण किया है। प्रेम के इन दोनों पक्षों की अभिव्यक्ति में जो रचनाएँ कवि की मिलती हैं उनमें माधुर्य कूट-कूट कर भरा है। आचार्य मम्मट ने माधुर्य गुण के जो लक्षण दिये हैं उन्हें पढ़ने के लिए कबीर कभी शास्त्रों को लेकर नहीं बैठे। परन्तु उनकी कविता में तो मिठास स्वाभाविक प्रवाह और आत्माभिव्यक्ति के फलस्वरूप ही प्रस्फुटित हुआ है। कबीर की कविता में कर्ण-कटु शब्द तो हमें उनकी कटु उक्तियों में भी देखने को कठिनाई से ही मिलेंगे।

---

१. (१) राम नाम जारायौं नहीं, लागी मोटी खोड़ि।
काया हांडी काठ की, ना ऊ चढ़ै बहोड़ि॥

(२) यह तन काचा कुम्भ है, लिया फिरैं था साथि।
ढबका लागा फूटि गया, कछू न आया हाथि॥

(३) राम नाम जाराया नहीं, पाल्या कटक कुटम्ब।
धन्धा ही में मरि गया, बाहर हुई न बम्ब॥

(४) कस्तूरी कुण्डलि बसै, मृग ढूंढै बन माहिं।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनिया देखै नाहिं॥

माधुर्य गुण [1] की इस प्रकार हम कबीर के साहित्य में प्रधानता पाते हैं और माधुर्य में लपेट कर आपने ब्रह्म के रहस्य को इतना प्रिय बना दिया है कि पाठक एक बार उससे अपनी अभिरुचि को सम्बन्धित करने के पश्चात् उसका ही हो रहता है।

विचाराभिव्यक्ति के प्रसाधन

प्रतीक

महाकवि कबीर ने अपने आध्यात्मिक विचारों के प्रकाशन और उनकी अभिव्यक्ति के लिए सहायक प्रसाधनों के रूप में प्रतीक-पद्धति को अपनाया है। यहाँ क्रमश: हम संक्षेप में इसका स्पष्टीकरण करेंगे।

सम्बन्धमूलक प्रतीक—प्रतीक-पद्धति के दर्शन हमें न केवल संत साहित्य में ही मिलते हैं वरन् वैदिक साहित्य में ऋषियों ने भी आध्यात्मिक तत्वों के निरूपण के लिए प्रतीक-पद्धति को ही अपनाया है। कबीर-कालीन साहित्य में प्रतीकवाद को प्रधान प्रश्रय मिला और सूफ़ी विचारकों तथा कवियों ने भी इसी का सहारा लेकर अपने विचारों का स्पष्टीकरण किया। सूफ़ियों ने आत्मा और परमात्मा के प्रेम के प्रतीक स्वरूप दाम्पत्य प्रेम को अपनाया। कबीर ने यह प्रतीक हिन्दू पद्धति के अनुसार ईश्वर को माता-पिता के रूप में भी देखा है और सूफ़ियों के अनुसार दाम्पत्य रूप में भी। परन्तु कबीर ने ब्रह्म की कल्पना पति के ही रूप में की हैं सूफ़ियों की भांति स्त्री के रूप में नहीं। मीरा ने भी कबीर की ही भांति ईश्वर को पति-रूप में देखा है। कबीरदास जी कहते हैं—

१. *"हरि जननी मैं बालक तोरा।"*
२. "पिता *हमारो बड़ गुसाईं।"*
३. *"हँसि-हँसि कंत न पाईये।"*

---

(१) बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारो राम।
जिव तरसैं तुझ मिलन कूं, मनि नाहीं विश्राम॥

(२) पंथु निहारे कामिनी लोचन भरले उसासा।
उर न भीजै पथु ना हरि दर्शन की आशा॥

(३) साईं बिन दरद करेजे होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, का से कहूँ दुख होय।
—(कबीर, हजारीप्रसाद, पृ० २६६-पद ५२)

(४) रितु फागन नियरानी, कोई पिया से मिलावे।
पिया को रूप कहाँ लग बरनू रूपहि मांहि समानी।
रो रंग रंगे सकल छवि छाके, तन मन सभी भुलानी।

४. *"पूत पियारो पिता को।"*
५. *"विरहणिं पिव पावे नहीं।"*
६. *"हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।"*

उक्त पंक्तियों में हमने आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्धों की कबीर द्वारा बालक, पिता, कंत, पूत, विरहणि, पिव, बहुरियां इत्यादि शब्दों के द्वारा देखी। कबीर के साहित्य में वात्सल्य प्रेम की वह सूक्ष्म अभिव्यक्ति नहीं है जो सूर में मिलती है परन्तु दाम्पत्य प्रेम की दिव्य रस पूर्ण अलौकिक आनंद से ओतप्रोत जो काव्यानुभूति हमें आपकी रहस्यवादी रचनाओं में मिलती है वह अन्यत्र मिलनी कठिन है। विरह और मिलन की कोमलतम परिस्थितियों का दाम्पत्य प्रेम में जो चित्रण सम्भव है वह लौकिक जीवन की अन्य परिस्थितियों में कदापि सम्भव नहीं हो सकता। इसी लिए कबीरदास जी ने आध्यात्मिक मिलन और विछोह के चित्रण के लिए दाम्पत्य प्रेम को ही प्रधान रूप से प्रतीक माना है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आपके दाम्पत्य वर्णन में विद्यापति और जयदेव की यदि सरसता नहीं है तो उनके जैसी अश्लील पद-योजना के भी यहाँ दर्शन नहीं होते और आप के पदों को पिता, पुत्र, माता, पुत्री, स्त्री-पुरुष, सभी एक साथ बैठकर पढ़ तथा गा सकते हैं। पवित्रता और सात्विकता इनका वह प्रधान गुण है जिसे रसात्मकता से किसी भी प्रकार न्यून पद प्रदान नहीं किया जा सकता। वासना की दुर्गन्ध आपके दाम्पत्य प्रेम-प्रधान साहित्य को छू तक भी नहीं गई है। कबीर का दाम्पत्य प्रेम सूफियों के प्रेमी और प्रेमिका के स्तर से ऊँचा उठकर भारत के शास्त्रीय दाम्पत्य की सीमा से भी ऊपर राम वर और आत्मा पत्नी के समीप पहुँच गया है। यह मिलन सम्भव ही तब है जब आत्मा अपने तमाम सांसारिक माया-मैल को काट कर पवित्र हो जाती है। इस आध्यात्मिक सम्बन्ध के स्थिर होते समय तैंतीस करोड़ देवता और अट्ठासी हजार ऋषि साक्षी होते हैं। इस मिलन और विछोह का कबीरदास जी ने बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। कबीर की इन रचनाओं में जिस आध्यात्मिक रस की वर्षा हुई है वह अलौकिक है। कबीरदास जी एक बालक के रूप में देखिये किस प्रकार ब्रह्म माता से विनती करते हैं—

हरि जननी मैं बालिक तेरा, काहे न औगुण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहैं न तेते॥
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता।
कहैं कबीर एक बुद्धि विचारी, बालक दुःखी महतारी॥

दाम्पत्य प्रतीकों के उदाहरण हम पीछे भी कई स्थानों पर प्रस्तुत कर चुके हैं। भावना तत्व के अंतर्गत आये हुए उदाहरण दाम्पत्य प्रतीकों के सुन्दर

उदाहरण हैं और इसी प्रकार आगे शृंगार रस के वर्णन में भी मनोरम प्रतीक पाठकों को पढ़ने के लिए मिलेंगे।

माता पिता, पुत्र, स्त्री, पति इत्यादि के अतिरिक्त आपने अपने को कुत्ता, गोरू इत्यादि भी कहा है और भगवान् को एक स्थान पर ग्वाला भी माना है। इन प्रतीकों से कबीर के विनय-भाव की विनम्रता का संकेत मिलता है। इतना छोटा प्रतीक मानने से भक्त की दुर्बलता का आभास कवि ने कराया है और समस्त बल की पुष्टि आपने भगवान् में ही की है। यह सभी सम्बन्ध मूलक प्रतीक हैं, इनके अतिरिक्त आपने सांकेतिक प्रतीक, पारिभाषिक प्रतीक, संख्यामूलक और रूपकात्मक प्रतीकों का भी आश्रय अपनी रचनाओं में लिया है।

सांकेतिक प्रतीक—सांकेतिक प्रतीकों का जहाँ तक सम्बन्ध है यह कुछ योग सम्बन्धी नाथ-पंथियों के व्यवहार में आने वाले शब्द कबीर ने ज्यों के त्यों अपनालिये हैं। जैसे 'गगन मंडल' को 'ब्रह्म रंध्र' 'शून्य चक्र' या 'कैलाश', 'पंच स्रोत' को इड़ा, पिंगला, वज्रा, चित्रणी और ब्रह्मनाड़ी कहा है। इसी प्रकार के बहुत से सांकेतिक प्रतीक नाथ पंथ की साधना-पद्धति से कबीरदास जी ने ग्रहण किये हैं।

परिभाषिक प्रतीक—इड़ा को गंगा, पिंगला को यमुना तथा सुषुमना को सरस्वती योगियों ने पारिभाषिक रूप में माना है और इनके संगम स्थान को त्रिवेणी कहा है। कबीरदास जी ने भी इनका इसी प्रकार प्रयोग किया है। मूलाधार चक्र के लिए सूर्य और सहस्त्रार चक्र के लिए चन्द्रमा का प्रयोग भी पारिभाषिक ही है।

संख्यामूलक प्रतीक—कबीरदास जी ने कहीं-कहीं पर केवल कुछ संख्याओं का प्रयोग मात्र करके ही संतुष्टि कर ली है। यह संख्याएँ भी प्रतीक स्वरूप ही आपने ग्रहण की हैं। जैसे चौंसठ का अर्थ ६४ कला, १४ का अर्थ १४ विद्या, पाँच का अर्थ पाँच नाड़ियाँ इत्यादि हैं और दस[1] द्वारों का अर्थ दस इन्द्रियां हैं।

रूपकात्मक प्रतीक—रूपक विशेषों के लिए पूर्वकल्पित अंगों का ज्यों का त्यों प्रयोग कबीरदास जी ने अपनी रचनाओं में बहुत से स्थानों पर किया है। इस प्रकार के प्रयोग रूपकात्मक प्रयोग कहलाते हैं।

कबीर की उलटवासियाँ

कबीरदासजी ने अपने बहुत रहस्यमय तथा गम्भीर विचारों को उलटवासियों

---

१. १. 'पाँच की प्यास तहँ देख पूरी।'—(कबीर-पृष्ठ २४६-पद १७)
२. 'कबीर पाटण कारिवाँ, पंच चोर दस द्वार।'
(कबीर वचनामृत पृ० ६६-दो० ७)

में ही प्रकट किया है। संस्कृत में भी उलटबासियाँ मिलती हैं। ऋग्वेद तथा उपनिषदों में इनका उदाहरण मौजूद है। इसके पश्चात् तांत्रिकों ने भी इस प्रणाली को अपनाया। तांत्रिकों का प्रभाव वज्रयानी सिद्धों पर हुआ। सिद्धों और नाथ पंथियों की परम्परा से कबीर-साहित्य में उलटबासियाँ प्रयुक्त हुईं। अधिकांश उलटबासियों में अभिधा मूलक अर्थ को न अपनायाजाकर सांकेतिक अर्थ की ओर ही लेखक का लक्ष्य रहता है।

कबीरदास की आध्यात्मिक उक्तियाँ हमें उलटबासियों के ही रूप में मिलती हैं। इन उक्तियों में एक विशेष प्रकार का अलंकारिक चमत्कार देखने को मिलता है। यह चमत्कार उन उक्तियों की नीरसता और शुष्कता को सर्वथा नष्ट कर देता है और उसमें एक चमत्कारिक सौंदर्य दिखाई देने लगता है। कुछ आचार्यों ने तो चमत्कार को रस से भी ऊपर उठा कर काव्य का गुण माना है। अलंकारिक चमत्कार के साथ-ही-साथ कबीर की उलटबासियों में व्यञ्जना के विविध रूप भी पाये जाते हैं। रूपक और प्रतीकात्मकता के अलंकारों से सज कर जब कबीर की उलटबासियाँ साहित्य के क्षेत्र में विचरण करती है तो उनका सौंदर्य देखते ही बनता है। आपकी उलटबासियाँ प्रायः तीन प्रकार की हैं—

१. अलंकार-मूलक।
२. अद्भुत रस-पूर्ण।
३. प्रतीक-मूलक।

अलंकार मूलक उलटबासियाँ—[१] अलंकार मूलक उलटबासियों में भी चमत्कार की ही प्रधानता रहती है और यह विशेष रूप से विरोध मूलक होती हैं। इन में विरोध मूलक अलंकार तो पाया ही जाता है। विरोध मूलक अलकार अतिशयोक्ति का ही एक भाग है। विरोधी मूलक अतिशयोक्ति अलंकार के ११ रूप होते हैं और इनके अनेकों उदाहरण हमें कबीरदास जी की उलटबासियाँ में देखने को मिल जायँगे।

अद्भुत रस पूर्ण उलटबासियाँ—[२] कबीर की बहुत सी उलटबासियों

---

१. आगमि बेलि अकास फल अण ब्यावण का दूध। (असंगति)
—(क० ग्रं० ८६—कबीर की विचार धारा पृ० २९८)
'कमल जो फूले जलह बिन, (विभावना)
आकासे,मुख औंधा कुआं पाताले पनिहारि। (विषम)
—(क० ग्रं० प्र० १६-कबीर की विचार धारा पृ० २९८)

२. ऐसा अद्भुत गुरि कथ्या मैं रहा भेषै।
मूसा हस्ती सौं लड़ै, कोई बिरला पेखै॥

में विरोध मूलक अलंकार के साथ अद्भुत रस का भी समावेश होता है। यहाँ प्रतीक और अलंकार गौण हो और कवि घटना, व्यापार इत्यादि को ही लक्ष्य बना कर रचना करे वहाँ अद्भुत रस का सञ्चार समझना चाहिए। कबीर की कविता में इसके भी उदाहरणों की कमी नहीं है।

प्रतीक मूलक उलटवासियाँ--कबीर की गूढ़तम भावनाओं और विचार धाराओं को हम उनकी प्रतीकात्मक उलटवासियों के अंतर्गत छुपा हुआ पाते हैं। जिन प्रतीकात्मक उलटवासियों में कबीरदासजी ने रूपक का भी आश्रय ले लिया है वहाँ उनके विशेष गूढ़ विचारों का प्रकाशन हुआ है। इस प्रकार की उलटवासियों में कहीं प्रतीक को प्रधानता मिल जाती है और कहीं पर रूपक को। इसी आधार पर डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने इनके "मूलतः रूपक प्रधान और मूलतः प्रतीक प्रधान" दो भाग कर दिये हैं। "इनके क्रमश उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

मूलतः रूपक प्रधान रूपकातिशयोक्ति—

हरि के षारे बड़े पकाए, जिनि जारे तिनि खाए।
ज्ञान अचेत फिरै नर लोई, ताथैं जनमि-जनमि डहकाए।।
धोल मंदलिया बैलर बाबी, कउवा ताल बजावै।
पहरि चोलना गदहा नाचै, भैंसा निरति करावै।।
स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावै।
उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछू एक आनंद सुनावै।।
कहै कबीर सुनहु रे संतहु, गडरी परबत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगलै, समंद अकासै धावा।।

—(क० ग्रं० पृ० ६२)

---

१. मूसा पैठा बांबि में, लारै सापणि धाइ।
उलटि मूसै सापणि गिली, यह अचिरज भाई।।
चींटी परबत ऊपरायां ले राख्यो चौड़ै।
मुर्गा मिनकी सूं लड़ै, झल पांणी दौड़ै।।
सुरहीं चूंखै बछतलि, बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुणी भया, सारदूलहि मारै।।
भील लुक्या बन बीझ में ससा सर मारै।
कहै कबीर ताहि गुरु करौं, जो यह पदहिं विचारै।।
—(कबीर की विचार धारा, पृ० ३६६)

मूलतः प्रतीक प्रधान रूपकातिशयोक्ति

कैसे नगरि करौ कुटवारी, चंचल पुरिष विचक्खन नारी ।
बैल बियाइ गाइ भइ बाँझ, बछरा दहै तीयू साँझ ॥
मकड़ी घरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी ।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मीडक सोवै साँप पहरिया ॥
निति उठ स्याल सिंह सू झूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै ।

—(और देखिये पृ० १४२ पर पद १६३")

संक्षिप्त

१. कबीर के साहित्य में बुद्धि-तत्व, भावना-तत्व, कल्पना-तत्व और रचना का सुन्दर विकास मिलता है।

२. निर्गुण ब्रह्म के निरूपण में बुद्धि और ज्ञान-तत्व का प्रधान रूप से विकास हुआ है।

३. रहस्यवादी कविताओं में आत्मा तथा परमात्मा के प्रेम का निरूपण बहुत ही सरल भावनात्मक ढंग से संयोग और वियोग पक्ष के अन्तर्गत किया गया है।

४. आत्मा और परमात्मा के मिलन तथा ब्रह्म के बहुत ही आकर्षक चित्र कबीर ने कल्पना के आधार पर चित्रित किये हैं।

५. रचना-तत्व के अंतर्गत आपने अपने काव्य में जिस शैली को अपनाया है वह बिलकुल स्वच्छन्द है।

६. छन्द-रचना में आपने भावना, कल्पना और विचार को रूढ़िवादी ढंग से जकड़ने का प्रयास नहीं किया है।

७. आपने विशेष रूप से संतों में प्रचलित छन्दों का ही अपनी कविताओं के लिए प्रयोग किया है।

८. रस के क्षेत्र में कबीर की कविता प्रधान रूप से शृङ्गार, शान्त और अद्भुत रस के अन्तर्गत ही रही है।

९. रहस्यवादी कविताएँ विशेष रूप से शृङ्गार प्रधान हैं और उनमें आपने नायक तथा नायिका के प्रेम का बहुत ही मनोहर तथा कलात्मक चित्रण किया है।

१०. जहाँ तक ज्ञान और माया की उपदेशात्मक रचनाओं का सम्बन्ध है वहाँ शांत रस का सुन्दर प्रवाह देखने को मिलता है। यह रस भी शृंगार की ही भाँति हृदय ग्राही बन पड़ा है।

११. आप की उलटबांसियों में अद्भुत रस का संचार बहुत ही सुन्दर हुआ और कहीं-कहीं पर तो यह शृङ्गार तथा शान्त रस को भी पीछे छोड़ गया है।

.... लिए बहुत ही व्यापक दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ने की आवश्यकता है। भारतीय परम्परा की साधना-कसौटी पर आपकी रचनाओं को कस कर यह ज्ञान कर लेने की आवश्यकता है कि उसके पश्चात् कितने विरोधात्मक विचार मिलते हैं। इसके लिए कबीर की साधारण कविताओं को लेकर ही काम नहीं चलाया जा सकता। कबीर की उक्तियों और उलटबासियों का भी अध्ययन करना परमावश्यक है। कबीर की रचनाओं में दर्शन शास्त्र की खोज करने वाले को शायद निराश होना पड़े परन्तु एक संत और साधक के विचारों में पैठने वाले को उनकी रचनाओं में न जाने कितने हीरे जवाहरात उपलब्ध हो सकते हैं। यहाँ फिर हमें कहना होगा कि कबीर को तर्क की कसौटी पर कसने वाले पारखी को तो सर्वदा ही निराश होना होगा।

कबीरदास ने अपनी साधना-पद्धति को व्यवस्थित करने का सम्भवतः कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। उनकी मुक्तक कविताओं में उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति और विचार स्पष्ट रूप से झलकते हैं। उनके एक ही विषय के दो विरोधी चित्रण पाठकों को भ्रम में डाल देते हैं परन्तु परा और अपरा के अर्थ को सही रूप में ग्रहण करने वाला पाठक इस विरोधाभास को समझने में कठिनाई का अनुभव नहीं करेगा। आपके समान और विरुद्ध पदों की तुलना बहुत ही सतर्कता के साथ करने की आवश्यकता है।

कबीर का ब्रह्म-विचार

परा और अपरा विद्या के आधार पर पर ब्रह्म और अपरंब्रह्म का निरुपण हम ऊपर कर चुके हैं। हजारी प्रसाद जी लिखते हैं, "आपाता दृष्टि से ऐसा जानः पड़ता है कि यह बात एक दम असंगत है कि एक ही वस्तु एक ही साथ सगुण भी हो और निर्गुण भी, साकार भी हो निराकार भी, सविशेष भी हो और निर्विशेष भी, सोपाधि भी और निरुपाधि भी। इसके उत्तर में वेदान्ती लोग कहते हैं कि ब्रह्म अपने आप में तो निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और निरुपाधि ही है परन्तु अविद्या या ग़लत फ़हमी के कारण, या उपासना के लिए हम उसमें उपाधियों या सीमाओं का आरोप करते हैं।............श्रुतियाँ बार-बार इस प्रकार प्रकट करती हैं, 'वह मोटा भी नहीं, पतला भी नहीं, छोटा भी नहीं, लोहित भी नहीं, स्वेत भी नहीं, छाया युक्त भी नहीं, अंधकार भी नहीं, वायु भी नहीं, आकाश भी नहीं.........' इत्यादि (वृहदारायक ३।८।८) इत्यादि। किन्तु ये सभी बातें अतद्व्यावृत्ति रूप से कही गई हैं अर्थात् इस प्रकार के कथन का अर्थ यह है कि 'पर ब्रह्म' समस्त ज्ञान वस्तुओं, गुणों और विशेषणों से विलक्षण है। इसका अभाव-

रूप अर्थ नहीं है। कबीरदास ने इस शैली का आश्रय करके भगवान् के विषय में अनेक पद गाये हैं।'[1]

इस प्रकार हमने देखा कि कबीर ने प्रधान रूप से निर्गुण ब्रह्म का ही अपनी रचनाओं में बखान किया है। ब्रह्म-निरूपण में उपनिषदों की पद्धतियों के साथ-ही साथ आपने सिद्धों और योगियों के शून्यवाद, सहजवादियों के सहज ब्रह्मवाद, इस्लाम के एकेश्वर वाद और सूफी प्रेम का आश्रय लिया है। आपके विचार से संसार के कण-कण में अनिर्वचनीय अलौकिक सत्ता निवास करती है और इसी शक्ति की आत्मा द्वारा अनुभूति का नाम ब्रह्म है। ब्रह्म के इस स्तर को आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूप में आत्मा और परमात्मा के पारखियों ने परखा है। आधिभौतिक भावना के अंतर्गत जो वस्तु जड़ रूप में जैसी दीख पड़ती है उसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं है। आज का पाश्चात्य दार्शनिक प्रकृति के इसी रूप को देखता है। स्पेंसर, मिल, काट और हेगल इत्यादि इसी प्रकार के विचारक हैं। आधि दैविक रूप का विचारक बाह्य प्रकृति का दैवीकरण करके उसमें ब्रह्म की शक्तियों की अनुभूति करता है। भारत में प्राचीन काल में प्रचलित बहुदेववाद का यही विचार मूलाधार है। ग्रीस में भी इसी प्रकार की विचार-धारा का प्राधान्य रहा है। सगुण ब्रह्म के उपासकों ने ब्रह्म के इसी रूप को अपना कर भक्ति की है। आध्यात्मिक भावना के अंतर्गत उक्त दोनों रूपों से ऊपर उठकर विचारक ब्रह्म के निर्गुण, निराकार, और अनिर्वचनीय रूप को ग्रहण करता है। साधक प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में ईश्वर के इसी रूप को पाता है। कबीर में हमें पूर्ण रूप से आध्यात्मिक ब्रह्म की भावना के दर्शन होते हैं।

सूरज चन्द्र का एकु ही उजियारा।
सब महि पसरा ब्रह्म-पसारा॥
—(क० ग्रं० पृ० २७२)

कबीरदास की रचनाओं में आधिभौतिक और आधिदैविक भावना को खोजना व्यर्थ ही है क्यों कि ऐसा करने से कबीर के मूल सिद्धांतों को ठेस लगती है। आप कबीर को विचारक कहें, संत कहें साधक कहें, या भक्त, यह आपकी

---

१. वेद विवर्जित भेद-विवर्जित पाप रु पुन्यं।
ग्यान-विवर्जित ध्यान-विवर्जित विवर्जित आस्थूल सुन्यं॥
भेष-विवर्जित भीख-विवर्जित डचँभक रूपं।
कहैं कबीर तिहुँ-लोक-विवर्जित ऐसा तत्त अनूपं॥
— (कबीर, हजारीप्रसाद, पृ० १००; क० ग्र० पद २१०)

इच्छा, परन्तु जहाँ तक ब्रह्म की शक्ति के निरूपण का सम्बन्ध है वहाँ तक उसमें किसी भी प्रकार की सीमा को बाँध देना उनके लिए मान्य नहीं होसकता।

ब्रह्म के विविध नाम

इस विषय में हजारी प्रसाद जी लिखते हैं, "परन्तु वह राम या हरि कौन है? परब्रह्म, अपरब्रह्म, ईश्वर या और कुछ? इसमें तो कोई संदेह नहीं कि हरि, गोविन्द, राम, केशव, माधव इत्यादि पौराणिक नामों की कबीरदास क्वचित् कदाचित् ही सगुण अवतार के अर्थ में व्यवहार करते हैं। एक दम नहीं करते, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर जब वह अपने परम उपास्य को इन नामों से पुकारते हैं तो सगुण अवतारों से उनका मतलब नहीं होता। उनका 'अल्लाह' अलख निरञ्जन देव है जो सेवा से परे है; उनका 'विष्णु' वह है जो संसार रूप में विस्तृत है; उनका 'कृष्ण' वह है जिसने संसार का निर्माण किया है; उनका 'गोविन्द' वह है जिसने संसार को धारण किया है; उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है; उनका 'खुदा' वह है जो दस दरवाजों को खोल देता है; 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियों का परवरदिगार है; 'करीम' वह है जो इतना सबकर रहा है; 'गोरख' वह है जो ज्ञान से गम्य है; 'महादेव' वह है जो मन की जानता है; 'सिद्ध' वह है जो चराचर दृश्यमान् जगत् का साधक है, 'नाथ' वह है जो त्रिभुवन का एक मात्र यती या योगी है,—जगत के जितने साधक हैं, सिद्ध हैं, पैगम्बर हैं वह इस एक की ही पूजा करते हैं। अनन्त हैं इसके नाम, अपरम्पार उसका स्वरूप।"[1] इस प्रकार ब्रह्म के सभी गुणों का समावेश कबीर ने विविध नामों के अंतर्गत किया है और अपनी मान्यता सभी धर्मों के इष्ट देवों में स्थापित की है। क्योंकि आप किसी धर्म विशेष के समर्थक नहीं थे इसलिए सभी धर्मों में मानी जाने वाली वह विशेष शक्ति जो सृष्टि का उत्पादन, संचालन और संहार करती है, परम शक्ति है, और जिसके विविध नाम विविध विचारकों ने रख लिए हैं। कबीरदास जी ने उन सभी को अपनाया और एक समन्वय की भावना से काम लेने का प्रयत्न किया। आप नामों के छिछले पन से ऊपर उठ कर रहस्यों की गम्भीरता में घुसे और तत्वों का सही रूप से निरूपण किया।

कबीरदास जी ने राम इत्यादि नामों का अपनी रचनाओं में पौराणिक सगुणवाद के अन्तर्गत समावेश नहीं किया, यह बात बिलकुल स्पष्ट है। आपने तो राम नाम का भी उल्लेख 'निर्गुणातीत' द्वैताद्वैत विलक्षण, भावा-भाव विनिर्मुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य, प्रेमपारावार, निर्गुण ब्रह्म के रूप में ही किया है, दशरथ पुत्र के रूप में नहीं। डा० हजारी प्रसाद जी कबीरदास के ब्रह्म-विचार के विषय में

१. (कबीर, हजारी प्रसाद—पृ० ११५, ११६)

लिखते हैं, "वह किसी भी दार्शनिकवाद के मान दण्ड से परे है, तार्किक बहस से ऊपर है, पुस्तकी विद्या से अगम्य है, पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है।"[1]

ब्रह्म का साकार व्यक्त स्वरूप

भक्ति के क्षेत्र में साकार ब्रह्म की ही उपासना सम्भव है, निर्गुण ब्रह्म की नहीं। इसी लिए भक्ति मार्गी आचार्यों ने सगुण साधना पर ही बल दिया है और पौराणिक युग में ईश्वरीय शक्तियों के प्रतीक स्वरूप देव-वाद को प्रश्रय मिला है।

भक्ति हृदय की सात्विक ईश्वरासक्ति का ही दूसरा नाम है और यह आसक्ति कभी भी निर्गुण के प्रति सम्भव नहीं। भक्ति के लिए श्रद्धा और प्रेम का हृदय में जाग्रत होना आवश्यक है और इनके जाग्रत होने से ही मन इष्ट-देव पर केन्द्रित हो सकता है। प्रेम और श्रद्धा को उत्पन्न करने के लिए ईश्वर में आकर्षण होने की नितान्त आवश्यकता है और आकर्षण के लिए उसमें सौंदर्य, सरलता, सौम्यता, गुण और ज्ञान की आवश्यकता है। इन सब के साथ-ही-साथ भक्ति की दृढ़ता में पूर्व जन्म के संस्कार भी साथ देते हैं। प्रेम और श्रद्धा को स्थिर करने के लिए आश्रय की आवश्यकता है और वह आश्रय तीन प्रकार का हो सकता है—

1. भावनात्मक (भावना प्रधान)
2. ज्ञानात्मक (बुद्धि प्रधान)
3. प्रतीकात्मक (मूर्ति रूप)

भावनात्मक—भावना के आवेश में भक्त अपने भगवान् के अन्दर उच्चतम गुणों की अनुभूति करता है। भगवान् के अत्यधिक निकट पहुँचने के लिए वह भगवान् से प्रणय-सम्बंध स्थापित करता है। जैसा कि हम पीछे कबीर के शृंगार-रस के वर्णन के अन्तर्गत भी लिख चुके हैं कि कबीर ने प्रेम का प्रदर्शन वात्सल्य और दाम्पत्य दोनों ही रूप में किया है। दोनों ही सम्बन्धों की प्रतीकात्मक रचनाएँ हमें कबीर के साहित्य में देखने को मिलती हैं। भक्त अपने भगवान् में विश्व के अन्दर पाये जाने वाले और कल्पना में समाने आने वाले सभी गुणों का प्रदर्शन करता है। जब वह विनय की भावना में बहता है तो अपने को क्षुद्र-से-क्षुद्र प्राणी मानता है और जब वह प्रेम की भावना में बहता है तो अपने को विरहणी अथवा स्त्री के रूप में निरखता है। इन्हीं भावनाओं के अन्दर कवि अपने उपास्य देव का भक्तवत्सल और समदर्शी रूप चित्रित करता है। कबीरदास ने भगवान् का ऐसा ही सगुण वर्णन किया है।

---

1. (कबीर, हजारी प्रसाद—पृ० 127)

भक्ति के क्षेत्र में भावना से प्रेरित होकर आत्मा भगवान् के सामने आत्म-समर्पण करती है। कबीरदास जी ने इस विषय में लिखा है —

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे मेरा॥

प्रेम-भावना में बहकर कबीरदास जी प्रेम की महिमा का इस प्रकार बखान करते हैं—

कबीर प्रेम न चाखिया, चाखि न लीया साव।
सूने घर का पाहुणा, ज्यूं आया त्यूं जाय॥

प्रेम का बादल तो कबीर के आँगन में हर समय छाया रहता है—

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्यां आय।
अन्तर भीगी आतमा, हरी भई बनराइ॥

प्रेम-बाण से बिंध कर फिर भी बिंधने की अभिलाषा कबीर के हृदय में विद्यमान है—

जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूं मारि, सर बिन सच पाऊं नहीं॥

वियोग-भावना का एक चित्र देखिए—

अङ्क भरे भरि भेटि, मन में नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलैं, जब लगि दोई सरीर॥

× × × × × ×

बासुरि सुखनां रैणि, ना सुख सुपिनैं माँहि।
कबीर बिछुट्या राम सूं, ना सुख धूप न छाँहिं॥

इसी प्रकार कबीरदास जी ने अतृप्ति, लालसा, व्याकुलता, पश्चाताप, विवशता, शंका, विस्मृति और दर्द के बहुत ही आकर्षक भावनात्मक चित्र खींचे हैं। प्रेम और विरह के यह संचारी भाव कबीर की रचनाओं में बहुत ही स्वच्छन्दता तथा सुन्दरता से बहते हैं। नायक और नायिका का चित्रण भी आप ने बहुत सुन्दर किया है। नायक का रूप देखिए—

कबीर की देख्या एक अङ्ग, महिमा कही न जाय।
तेज पुञ्ज पारस धणी, नैनूं रहा समाय॥

नायिका का गर्व देखिए—

नैना अन्तरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झँपेउं।
ना हौं देखौं और कूं, ना तुझ देखन देउं॥

दास-भावना और स्वामी में विश्वास देखिए—

उस समथ का दास हौं, कदे न होई अकाज।
पतिव्रता नांगी रहै, तौ पुरिस को लाज॥

इस प्रकार पति-पत्नी के रूप में कबीर ने प्रेम की सभी भावनात्मक व्यंजनाओं और व्याख्याओं का निरूपण किया है।

ज्ञानात्मक—भक्ति के भावना तत्व का निरीक्षण करके अब हम कबीर के ज्ञान-तत्व (बुद्धि-तत्व) का संक्षेप में स्पष्टीकरण करेंगे। कबीर के ज्ञान-तत्व के विषय में भी हम दूसरे अध्याय में सकेत कर चुके है। इस विषय में डा० गोविन्द त्रिगुणायत लिखते हैं, "बुद्धि विनिर्मित साकार विग्रह का वर्णन सबसे प्रथम ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में मिलता है।[1] गीता और उपनिषदों में[2] भी उसी की महिमा वर्णित है।...........

अर्थात् उस विराट पुरुष के सहस्त्र मस्तक, सहस्त्र नेत्र तथा सहस्त्र चरण थे। उसने पृथ्वी को चारों ओर से आवृत्त कर रखा था। फिर भी वह दशाङ्गल था। इस प्रकार के वर्णनों को हम भावना प्रेरित न मान कर बुद्धि-मूलक ही मानेंगे। इस प्रकार के विराट रूप का वर्णन कबीरदास ने भी किया है।" इस तरह के बड़े-बड़े आकर्षक वर्णनों में आपने ईश्वर की महानता के साथ उनके सौंदर्य का भी चित्रण करना नहीं भुलाया। कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ २७८ पर इसी विचार का पद देखिए—

कोटि सूर जाकै परगास, कोटि महादेव अरु कविलास।
दुर्गा कोटि जाकै मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै।
कद्रप कोठि जाके लव न धरहि, अंतर अंतरि मनसा हरहि॥

....

प्रतीकात्मक—कबीर की सुगण उपासना में तीसरा प्रकार प्रतीकात्मक है। यह प्रकार भी किसी प्रकार भावनात्मक प्रकार से कम महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि ब्रह्म का सुगण साकार रूप इसी प्रकार के चित्रणों में अधिक निखार के साथ सामने आता है। प्रतीक मूर्त और अमूर्त दोनों रूप में पाये जाते हैं। यह पद्धति कबीर की नवीन नहीं है, बहुत प्राचीन है। उपनिषदों में भी इसके उदाहरण कम नहीं मिलते। व्यक्त रूप में कबीर ने प्रतीकों का प्रयोग केवल मन को ही ब्रह्म रूप मानने में किया है—

कहु कबीर को जाने भेव, मन मधुसूदन त्रिभुवनदेवं।
—(सं० क० पृ० ३०)

---

१. हिम्न्स फ्रॉम दि ऋग्वेद—पिटरसन—सूक्त २०।१

२. श्वेताश्वतर ३।२

वर्णन उपनिषदों में भी मिलता है। ब्रह्म के इस रूप का प्रतिपादन आचार्य शंकराचार्य ने भी किया है। अनहदवाद के रूप में महात्मा कबीर ने इसी शब्द-ब्रह्म का निरूपण किया है। राम नाम का प्रयोग भी उनके मतानुसार विशुद्ध निरंजन के रूप में शब्द-ब्रह्म का प्रतिपादन है —

मुरली बजत अखंड सदा से, तहाँ प्रेम झनकारा है।

(कबीर पृ० २६५-पद ५०)

सुनता नहीं धुन की खबर, अनहद का बाजा बजता।

(कबीर पृ० २६७-पद ५४)

साधो, शब्द-साधना कीजै।
जे ही शब्दते प्रगट भये सब, सोही शब्द गहि लीजे ॥
शब्द गुरू शब्द सुन सिख भये, शब्द सो विरला बूझै।
सोई शिष्यं सोई गुरू महातम, जेहिं अन्तर-गति सूझै ॥
शब्दे वेद पुरान कहत हैं, शब्दे सब ठहरावै।
शब्दै सुर मुनि सन्त कहत हैं, शब्द भेद नहिं पावै ॥
शब्दे सुन-सुन भेप धरत हैं, शब्दे कहै अनुरागी।
षट दर्शन सब शब्द कहत हैं शब्द कहे वैरागी ॥
शब्दे कांया जग उतपानी शब्दे केरि पसारा।
कहै कबीर जहँ शब्द होत है भवन भेद है न्यारा ॥

—(कबीर, हजारीप्रसाद, पृ० २६८-पद ५७)

उक्त पदों में मुरली, अनहद नाद और शब्द तीनों रूपों में ब्रह्म शब्द स्वरूप में ही कवि द्वारा वर्णित है।

शून्य शब्द का ब्रह्म के रूप में प्रयोग भी बहुत पुरातन और भारतीय है। उपनिषदों के प्रभाव से बौद्धों ने इसे अपनाया और फिर नाथ पंथी साधुओं ने इस शब्द का प्रयोग किया। कबीरदास की कविता में 'सुन्न' शब्द का प्रयोग ब्रह्म के इसी शून्य स्वरूप के लिए हुआ है। डा० हजारी प्रसाद जी लिखते हैं,"कबीर दास प्रायः! 'सहज शून्य' का एक ही साथ प्रयोग करते हैं और कितनी ही जगह एक ही अर्थ में भी प्रयोग किया है।" इस प्रकार कबीर ने शून्य और सहजावस्था का एकीकरण कर दिया है। समन्वय की भावना तो हमें कबीर में आद्योपान्त मिलती ही है। उनके निकट तो शब्द, सहज, शून्य और अनिर्वचनीय तत्व सब एक ही ब्रह्म के विविध नाम हैं। शून्य शब्द का प्रयोग कबीरदास जी ने शून्यावस्था, शून्य सरोवर, शून्य चक्र, शून्य पदवी, शून्य भाव, शून्य मार्ग इत्यादि प्रकार से किया है। 'सुन्न' शब्द का प्रयोग देखिये—

सुन्न सहज मन सुमिरत, प्रगट भई एक जोति ।
ताहि पुरुष की मैं बलिहारी, निरालम्ब जो होति ॥

(बीजक पृ० ३–रमैनी)

तत्व रूप—ब्रह्म को तत्व-रूप में उपनिषदों में भी माना गया है । निर्गुण ब्रह्म का तत्व-रूप में कबीरदास ने चार प्रकार से वर्णन किया है —

१. निर्गुणता सूचक विशेषणों द्वारा ।
२. सृष्टि बनने से पूर्व के वर्णन द्वारा ।
३. विभावनात्मक वर्णनों द्वारा ।
४. नकारात्मक शैली द्वारा ।

उक्त चारों प्रकारों में 'निराकार', 'अलख निरञ्जन' इत्यादि निर्गुण विशेषण हैं । सृष्टि से पूर्व का एक चित्रण देखिए —

१. बरनहुं कौन रूप औ रेखा, दोसर कौन आहि जो देखा ।
ओंकार आदि नहिं वेदा, ताकर कहहु कौन कुल भेदा ॥
नहिं तारागन नहिं रवि चन्दा, नहिं कछु होत पिता के बिंदा ।
नहिं जल नहि थल नहिं थिर पौना, को धरे नाम हुकुम को बरना ॥
नहिं कुछ होत दिवस निज राती, ताकर कहहु कौन कुल जाती ।

—(बीजक–रमैनी-पृ० ३)

२. अबगति की गति का कहूँ जस का गांव न नांव ।
गुरु विहूंन का पेखिये काक धरिए नांव ॥

—(क० ग्रं० पृ० २२६)

उक्त दो प्रकारों के अतिरिक्त नकारात्मक और विभावनात्मक शैलियों के भी उदाहरण नीचे देखिए —

नकारात्मक शैली—

१. ऐसा जोगिया है बद करमी, जाके गगन अकास न धरनी ।
हाथ न वाके पाँव न वाके, रूप न वाके रेखा ॥
बिना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेखा ।
करम न वाके धरम न वाके, जोग न वाके जुगुती ॥
सींगी पात्र कछू नहिं वाके, काहे को मांगै भुगुती ।

—(बीजक—शब्द-पृ० २४)

२. ना तिस सब्द न स्वाद न सोहा ।
ना तिहि मात पिता नहिं मोहा ॥
ना तिहि सास ससुर नहिं सारा ।
ना तिहि रोज न रोवन हारा ॥

—(क० ग्रं० पृ० २४३)

सगुण निर्गुण रूप—कहीं-कहीं पर कबीरदास जी विचारों की तन्मयता में आकर भावनाओं में बह निकलते हैं और उन स्थानों पर आपने ब्रह्म का सगुण और निर्गुण रूप एक ही स्थान पर प्रदर्शित कर दिया है। आप कहते हैं; "गुण में निर्गुण, निर्गुण में गुण है।"

विलक्षण नेति-नेति अव्यक्त—कबीरदास जी के परात्परवाद में हमें सभी वादों की छाया मिल जाती है। आपने जहाँ भी विलक्षण गुणों का रूप पाया है उन्हें कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में अपने ब्रह्मदेव के अन्दर समाविष्ट कर दिया है। बौद्धों के अनिवर्चनीयतावाद और रहस्यवादी भक्तों के अद्भुत वाद की स्पष्ट छाया हमें कबीर के अव्यक्त ब्रह्म पर दिखलाई देती है। कबीर के ब्रह्म-निरूपण पर उस काल के प्रायः सभी वादों के निरूपित ब्रह्म की छाया मिल जाती है। इस प्रकार जहाँ तक ब्रह्म-निरूपण का विचार है हमें कबीर में पूर्ण रूप से आध्यात्मिक विचार ही मिलता है। कहीं-कहीं पर आधिदैविक भावना की झलक भी विद्यमान है परन्तु आधिभौतिक भावना का नितान्त अभाव है। यह विचार हम ऊपर भी स्पष्ट कर चुके हैं। आपका ब्रह्म-वर्णन शास्त्रीय शैली के अंतर्गत न होकर उपदेशात्मक, रहस्यात्मक, भावनात्मक और बुद्धि मूलक शैली के अंतर्गत हुआ है। इसी लिए यह उपनिषदों के अधिक निकट है।

आत्मा सम्बन्धी विचार

कबीरदास जी की रचनाओं में विशेष रूप से पदों और साखियों में आत्मा का निरूपण किया गया है। आत्मा-सम्बन्धी विचार जहाँ भी आया है वह ब्रह्ममय होकर ही प्रस्फुटित हुआ है, स्वतन्त्र रूप से बहुत कम कबीर ने आत्मा और परमात्मा की एक रूपता पर ही बल दिया है यही अद्वैतवाद का प्रधान विचार है। आत्मा का वर्णन कबीर की रचनाओं में भावनात्मक तथा विचारात्मक दोनों प्रकार से मिलता है। वास्तव में कबीर ने अध्यात्म के सभी मूल तत्वों को, भावना और बुद्धि, दोनों की ही कसौटी पर कसकर परखने का प्रयत्न किया है। आत्म-विचार से जहां तक भावना-पक्ष का सम्बन्ध है वह आपकी रहस्यवादी रचनाओं में बहुत सुन्दर ढंग से मुखरित हुआ है। पहिले हम कबीर के बुद्धि-प्रधान आत्म-विचार पर दृष्टि डालते हैं।

कबीर आत्मा को समस्त संसार में व्याप्त मानते हैं और इस संसार-व्याप्त आत्मा का नाम विश्वात्मा है। आत्मा विश्वात्मा का वह रूप है जो माया द्वारा विश्वात्मा से प्रथक कर दिया जाता है। उदाहरण स्वरूप यदि नदी में से एक

घड़ा[1] पानी भरकर उसे नदी में ही रखदिया जाय तो मटके का पानी मटके में भरे रहने के कारण सरिता के पानी से प्रथक हो जाता है। अब यदि यह माया का मटका फूट जाय तो वह पानी फिर सरिता के पानी में मिल जाय। यही दशा आत्मा और विश्वात्मा की है। वेदान्त का भी आत्मा के विषय में यही मत है। वेदान्त माया आवद्ध आत्मा को ही जीव कहता है।

आत्मा का जीव-निरूपण—महाकवि कबीर ने जहाँ पर भी अद्वैत की भावना को लिया है वहाँ आत्मा और परमात्मा का एकीकरण कर दिया है; परंतु द्वैत को भावना का विचार भी आपने प्रगट किया है।

पाँच तत्त का पूतरा, जुगति रची मैं कीव।
मैं तोहि पूछों पंडिता, सब्द वड़ा की जीव॥

उक्त पद में कबीर ने शब्द और जीव को प्रथक-प्रथक करके देखा है। अब दूसरे पद में एक ही रंग से जीवात्मा का प्रथक होना देखिए—

रंगहि ते रंग ऊपजे, सम रंन देखा एक।
कौन रङ्ग है जीव का, ताका करहु विवेक॥

कबीर ने आत्मा और परमात्मा की बूंद और समुद्र से भी उपमा दी है।[2] "भारतीय दार्शनिकों में प्राय: कोई मतभेद नहीं है कि आत्मा नामक एक स्थायी वस्तु है जो वाहरी दृश्यमान जगत् के विविध परिवर्तनों के भीतर से गुजरती हुई भी सदा एकरस रहती है। वे सभी पंडित स्वीकार करते हैं कि जब तक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक यह आत्मा जन्म-कर्म के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।"[3] परन्तु कबीर का आत्म-निरुपण अधिकांश मे ब्रह्म-निरुपण के ही समान मिलता है। ब्रह्म के ही समान आत्मा का भी नकारात्मक-निरूपण देखिए—

ना इहु मानुप न इहु देवा, ना इहु जती करावै सेवा॥
ना इहु जोगी न इहु अवधूता, ना इस माइ न काहू पूता।
या मन्दिर यह कौन बसाइ, ताका अन्त कोउ न पाई॥

---

१. जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ्य कथ्यो गियानी॥
—(क० ग्रं० पृ० १०९)

हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हिराइ।
समंद समाना बूंद में सो कत हेर्‌या जाय॥
हेरत-हेरत हे सखी गया कबीर हिराइ।
बूँद समानी समंद में सो कत हेरी जाइ॥
कबीर—(पृ० १०२-पंक्ति ६—११)—डा० हजारीप्रसाद

ना इहु गिरही ना ओदासी, ना इहु राजा ना भीख मंगासी।
ना इहु पिण्ड न रक्त रानी, न इहु ब्रह्म ना इहु खाती॥
ना इहु तपा कहावे सेख, ना इहु जीवै मरता देख।
इसु मरने कौ जे कोऊ रोवै, जे रोवै सोई पति खोवै॥
—(क० ग्र० पृ० ३०१—कबीर की विचार धारा-पृ० २२०)

उक्त पद में आत्मा का ब्रह्म में एकीकरण प्रतीत होता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कुछ-कुछ इसी प्रकार का उपदेश किया है।

आत्मा का सुरति-निरूपण—डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर के विचार से आत्मा के दो रूप ज्ञाता या ज्ञेय, द्रष्टा या दृश्य, प्राप्ता या प्राप्तव्य के रूप में उपनिषदों के आधार पर माने हैं और कबीर द्वारा प्रयुक्त 'सुरति' तथा 'निरति' का प्रयोग आत्मा के इन्हीं दोनों रूपों के विषय में समझा है। परन्तु हमारा विचार इससे भिन्न है। हमारे विचार से कबीर ने 'सुरति' शब्द का प्रयोग आत्मा और 'निरति' का विशुद्ध ब्रह्म के रूप में किया है। आत्मा जब निरति की स्थिति को प्राप्त हो जाती है तो अद्वैत की भावना स्पष्ट हो जाती है। हमारे इस विचार को निम्न लिखित पद स्पष्ट करता है—

सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खूले स्यम्भ द्वार॥

यहाँ 'सुरति' 'निरति' में बदल नहीं रही है वरन् सुरति का निरति में समाने का निर्देश है। और "आप छिपाने आपे आप" में तो विशुद्ध अद्वैत की भावना झलक रही है। इसी अद्वैत-भावना के रूप में 'सुरति' 'निरति' का दूसरा प्रयोग देखिए—

सुरति समांणीं निरत मैं, अजपा मांहै जाप।
लेख समांणां अलेख मैं, यूँ आया माँहैं आप॥

'निरति' का प्रयोग ब्रह्म के रूप में और स्पष्ट देखिए—

सुरत निरत सों मेला करके अनहद नाद बजावै।
—(कबीर-पृ० २६२-पद ४०-पंक्ति ७)

आत्मा और ब्रह्म की अद्वैत भावना का एक सुन्दर रूपक देखिए—

साधो, सहजै काया साधो।
जैसे वट का बीज ताहि में पत्र-फूल-फल छाया।
काया-मद्धे बीज विराजे, बीजा मद्धे काया॥
अग्नि पवन पानी पिरथी नभ, ता बिन मिलै नाहीं।
काजी पंडित करो निरनय को न आपा माहीं॥

जल भर कुम्भ जलै विच परिया, वाहर भीतर सोई।
उनको नाम कहन को नाहीं, दूजा धोखा होई॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सत्य शब्द निज सारा।
आपै-मद्धे आपै बोलै, आपै सिरजन हारा॥

—(कबीर-पद ४६-पृ० २६४)

आत्मा का प्राण-निरूपण—कबीर ने आत्मा के लिए जीव और सुरति ब्द का प्रयोग किया है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। इनके अतिरिक्त आपकी चनाओं में आत्मा के लिए 'प्राण' शब्द का भी प्रयोग मिलता है।—

प्राण पंड को तजि चले जीव न जाणैं जाल।
कहै कबीर दूरि करि, आतम अदिप्ट काल॥

—(क०ग्र० पृ० ३२-कबीर वचनामृत पृ० ६३)

जीवात्मा के लिए प्राण शब्द का प्रयोग उपनिषदों और अरण्यकों में भी ाया है। ऋग्वेद में प्राण का अर्थ केवल वायु है।

कबीर ने जीवात्मा का वर्णन प्रायः निर्गुण-रूप में ही किया है, साकार रूप नहीं; साकार रूप में केवल दीपक की लौ के समान माना है। सो दीपक की लौ[1] ी एक प्रकार से निर्गुण ही मानी जा सकती है।

कबीर अपनी आत्मा को निरञ्जन और निराकार कहता है। जीव के सत वरूप की कबीर ने अनेकों प्रकार से अभिव्यंजना की है। वह जीवात्मा को अमर हते हैं। वह उनके लिए घट-घट वासी अद्वैत तत्व भी है और ब्रह्म की समकक्ष ी। आत्मा कबीर के विचार से शक्तिशाली, चेतन स्वरूप, ज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप है। वास्तव में आत्मा और परमात्मा में कबीर के निकट कोई विशेष भेद नहीं है। आत्मा तत्व को आपने सच्चिदानन्द के ही रूप में निरखा है। कबीर आत्मा को अनादि मानते हैं। कबीर ने आत्मा को सैद्धान्तिक रूप से अद्वैत वादियों के मतानुसार वर्णित किया है। काठोपनिषद, गीता इत्यादि के मत का ही कबीर ने प्रतिपादन किया है।

जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध—कबीर के विचार से आत्मा कोई ब्रह्म से पृथक वस्तु नहीं है वरन् ब्रह्म का ही एक अङ्ग मात्र है। जीव को ब्रह्म का अंश अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी तथा द्वैताद्वैतवादी सभी लोग मानते हैं।

ब्रह्म और जीव का तादात्म्य—ब्रह्म और जीव का तादात्म्य तीन प्रकार से माना गया है—

---

1. मंदिर मांहि झपूकती, दीवा कैसी ज्योति।
हंस वटाऊ चलि गया, काढ़ौ घर की छोति॥
(क० ग्र० पृ० ७३—कबीर की विचार धारा पृ० २२२)

१. ज्ञानात्मक।

२. भावनात्मक।

३. यौगिक।

ज्ञानात्मक—ज्ञानी लोग आत्मा और परमात्मा में कोई वास्तविक भेद नहीं समझते। उनका मत है कि यह भेद माया-जन्य है। जब साधना द्वारा जीवात्मा इस माया के आवरण को चीर देती है तो आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है और जीवात्मा जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होजाती है। मोक्ष की भावना को व्यक्त करते हुए आत्मा और परमात्मा के इस सम्बन्ध का कबीरदास ने सुन्दर वर्णन किया है।

भावनात्मक—आत्मा और ब्रह्म का जो सम्बन्ध ज्ञान और बुद्धि द्वारा होता है वह ज्ञानात्मक कहलाता है। परन्तु जो सम्बन्ध भावनाश्रित होता है उसमें भी भक्त को प्रेम-भाव से साधना करनी होती है। कबीर का रहस्यवादी चित्रण इसी भावनात्मक तादात्म्य का सजीव उदाहरण है। रहस्यवाद का आगे चलकर हम विस्तार के साथ चित्रण करेंगे।

यौगिक—यौगिक साधना के विषय में भी कबीर ने लिखा है और उनके मतानुसार यौगिक तादात्म्य भी सम्भव है।

इस प्रकार ऊपर हमने तीन प्रकार के ब्रह्म तथा जीव के तादात्म्य पर विचार किया और कबीर के विचारों में हमें तीनों की ही झलक दिखलाई देती है। कबीर के आत्मचिंतन और ब्रह्म-निरूपण में तर्क वितर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। आपके आत्म-निरूपण पर शङ्कर के विचारों और उपनिषदों की स्पष्ट झलक है। आत्म-तत्व की अद्वैत भावना और एकता के विषय में कबीर का विचार बहुत दृढ़ है। आत्मा और ब्रह्म में अंशांशि भाव आपने प्रकट किया है।

आत्मा के रूप—कबीरदास ने आत्मा के तीन रूप किये हैं—

१. मानव। (स्त्री रूप और पुरुष रूप)

२. अन्य जीव।

३. वस्तु।

स्त्री रूप—स्त्री रूपिणी आत्मा के कबीर ने चार भेद किये हैं—

१. कुमारी (कन्या) २. सुन्दरी (विवाहिता)

३. विरहिणी ४. सती[1]

---

१. कुमारी—

जब लगि पीव परचा नहीं, कन्या कुवांरी जांणि।

हथलेवा हौंसे लिया, मुसकल पड़ी पिछांणि॥

आत्मा का जब तक ब्रह्म से परिचय नहीं होता वह कुमारी ही रहती है। जब कुमारी को ज्ञान प्राप्त होता है तो उसमें एक तड़पन और छटपटाहट पैदा होती है। इसके पश्चात् आत्मा का 'सुन्दरी' रूप में कबीर ने चित्रण किया है। मिलन के पहिले का संकोच, सिहरन, मिलन का वर्णन और मिलन-स्थान की रमणीकता का कबीर ने बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। आत्मा का सुप्तावस्था में जो उसका ब्रह्म से वियोग होती है उसका चित्रण विरहिणी के रूप में किया गया है। और अन्त में विह्वल विरहणी जब असहनीय बिछोह से सती होने को तय्यार होजाती है तो उसका कबीर ने सती आत्मा के रूप में चित्रण किया है।

पुरुष रूप में—पुरुष के रूप में कबीर ने दो प्रकार से आत्मा का वर्णन किया है—

१. रागात्मक सम्बन्ध।
२. साधारण सम्बन्ध

रागात्मक सम्बन्ध—रागात्मक सम्बन्ध कबीर ने योगी और पुत्र के रूप में प्रकट किया है—

योगी की समाधिरतावस्था—

झल उठि झोली जली, खपरा फूटिम फूट
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही बिभूति ॥

पुत्र-रूप में—

हारी खाँड पटकि करि, अन्तरि रोष उपाइ।
रोवत-रोवत मिल गया, पिता पियारे जाइ ॥

अन्य जीवों के रूप में—अन्य जीवों के रूप में हम आत्मा का स्पष्टीकरण सवार, लुहार और जौहरी के रूप में पाते हैं—

विवाहिता सुन्दरी—

१. जा कारणि मैं ढूँढता सनमुख मिलिया आइ।
धन मैली पिव ऊजला लागि न सकौं पाइ ॥
२. कबीर तेज अनन्त का, मानौं ऊगी सूरज सेणि।
पति सँगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि ॥

३. विरहणी—

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जाका संग तैं बीछुड्या, ताही के संग लागि ॥

४. सती—

सती बिचारी सत किया, काठौं सेज बिछाइ।
ले सूती पिव आपणा, चहुँदिसि अगनि लगाइ ॥

—(कबीर ग्रन्थावली (साखी भाग) पृष्ठ १२, १३, १४)

सवार—

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यान पड़ग गहि काल सिर, भली मचाई मार॥

लुहार—

धवणि धवन रहि गई, बुझि गये अंगार।
अहरणि रह्या ठमूकड़ा, जब उठि चले लुहार॥

जौहरी—

हरि हीरा जन जौहरी, ले ले मांडिय हाटि।
जब राम लेगा पारिषू, तब हीरा की साटि॥

उक्त दृष्टान्तों के अतिरिक्त कबीरदास जी ने पक्षियों और जलचरों के रूप में भी आत्मा का चित्रण किया है। हंस नाम से तो प्रायः कबीर आत्मा को सम्बोधित करते ही हैं।

वस्तु रूप में —इन जीवित जन्तुओं के अतिरिक्त कुछ प्रकृति की शक्तियों के रूप में भी आपने जीवात्मा को परखा है और बत्ती, ज्योति, अंगार इत्यादि शब्दों से सम्बोधित किया है। हिम, पारस, शंख, सीप इत्यादि अनेकों नाम आपने आत्मा को प्रदान किये हैं।

मोक्ष-विचार

कबीर दास ने मोक्ष-पद के लिए उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है जिन्हें भक्त और वेदान्ती लोग प्रयोग में लाते आये हैं। निर्वाण-पद अभय-पद और परम-पद इत्यादि नाम ही मोक्ष-पद को दिये जाते थे। मुक्ति के पश्चात् कबीरदास जी आत्मा को जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त मानते हैं। मुक्तात्मा का कबीरदासजी ब्रह्म में इस प्रकार तादात्म्य मानते हैं कि फिर दोनों का प्रथक होना असम्भव है। आत्मा के जहाँ वह शून्य में विलीन होने की बात कहते हैं वहाँ उनपर बौद्ध-धर्म की निर्वाण-गिति का प्रभाव मालूम होता है। योगियों का भी इस पर प्रभाव है। कबीर ने कई स्थल पर मोक्ष का वर्णन कैवल्य-भाव से किया है। इस विचार के आधीन कार्य-गुण कारण-गुणों में लीन हो जाते हैं। जैसे—

कहे कबीर मन मनहिं मिलावा।

—(क० ग्रं० पृ० १०२—कबीर की विचार धारा पृ० २२१)

परंतु ऊपर बौद्धिक तथा कैवल्यीय प्रभाव कबीर की मोक्ष-भावना में देखने पर भी हम यह कह सकते हैं कि उनका मोक्ष-निरूपण पूर्णतया वेदान्त के आधार पर ही चित्रित किया गया है। सागर और तरङ्ग के रूप में वेदान्ती लोग ब्रह्म और आत्मा का निरूपण करते हैं। ठीक इसी प्रणाली का प्रधानतया अनुसरण

अध्याय ६

कबीर का रहस्यवाद

गत अध्याय में हमने अव्यक्त ब्रह्म और अव्यक्त आत्मा के भावनात्मक निरूपण के समय कबीर के रहस्यवाद की ओर संकेत करके उस विषय का वहाँ संकेत मात्र देकर केवल इसलिए छोड़ दिया कि हमें कबीर के रहस्यवाद पर पृथक से विचार करना है। कबीर का रहस्यवाद प्रत्यक्ष रूप से उनका आध्यात्मिक ब्रह्म से आत्मा का भावनात्मक तादात्म्य करने का प्रयास है। यह आत्मा और परमात्मा का प्रणय-सम्बन्ध है जिसमें दोनो के स्वरूप और तत्वों का निरूपण बुद्धि प्रधान होने पर भी मिलन के प्रयास पूर्ण रूप से भावनात्मक हैं। बस यही है इस मिलन में रहस्य की भावना जिसे विद्वानो ने जितना भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है यह उतना ही और उलझने सा लगता है। रहस्यवादी कवि भावना और प्रेम से ब्रह्म के आधिदैनिक स्वरूप की भावना प्राप्त करता है और बुद्धि द्वारा आध्यात्मिक ब्रह्म के सत्य निरूपण से ज्ञान और फिर इन दोनों का सहारा लेकर आध्यात्मिक सत्ता की जो उसे रहस्यमयी अनुभितियाँ साधना-क्षेत्र से प्राप्त होती हैं, उनके अपनी अटपटी भाषा में शब्द चित्र अंकित करता है। बस साधक की यही कला-कृतियाँ साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि करती है।

'रहस्यवाद' शब्द बहुत प्राचीन नहीं, उपनिषदों में इस प्रकार की रचनाओं के लिए "अपरा विद्या", 'ब्रह्म ज्ञान', "गोप्य", "रहस्य" इत्यादि शब्दों का प्रयोग मिलता है। साधना की क्रियाओं को छुपाने और इसके आत्मबल तथा आत्मानुभवों को गोपनीय रखने के लिए सिद्ध लोगों ने अपनी संध्या भाषा में इस प्रकार के प्रयोग किये। परन्तु हम इसका प्रधान कारण यही मानते हैं कि सिद्ध लोगों को अपनी अनुभूति के चमत्कार भाषा में व्यक्त करने में कठिनाई उत्पन्न हुई होगी। एक तो उनका भाषा-सम्बन्धी ज्ञान ही कुछ कम था और फिर वह विषय इतना गूढ़ तथा विचित्र था कि यों ही सीधे-सीधे लिखने का कुछ भी अर्थ नहीं होता। फिर अपने ब्रह्मानुभवों को साधारण लोगों से छुपा कर रखने की भी भावना कुछ न कुछ अवश्य रही होगी। खैर जो कुछ भी सही, हमें रहस्यवाद

के उसी रूप पर विचार करना है जो कुछ कि यह आज बन चुका है और उसके जिस रूप पर विद्वान विचार करते चले जा रहे हैं।

महाकवि कबीर का सम्पूर्ण साहित्य यदि विश्लेषण करके देखा जाय तो प्रधानतया ब्रह्म और आत्म निरूपण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दर्शन शास्त्र में ब्रह्म-विचार बुद्धि के सहारे अग्रसर होता है परन्तु कबीर के रहस्यवाद में भावना-पक्ष को भी अपनाया गया है। भावना हृदय से सम्बन्धित है और बुद्धि मस्तिष्क से। उपनिषदों ने ब्रह्म को रस रूप माना है और रस रूप ब्रह्म से तादात्म्य करने के लिए बुद्धि द्वारा प्रतिपादित तर्क शैली को नहीं अपनाया जा सकता। तर्काश्रित ब्रह्म-निरूपण को कबीर ने मोटी बुद्धि का कार्य माना है।[1]

कबीर ने भक्ति के आधिदैविक उपास्यदेव को अपने रहस्यवाद का विषय नहीं बनाया। ब्रह्म के आध्यात्मिक स्वरूप की अनुभूति ही उनका प्रधान लक्ष्य और विषय रहा है। प्रेमाश्रित आध्यात्मिक तत्वों की अनुभूति से रहस्य की भावना का प्रस्फुटित होना अनिवार्य था और इसी से रहस्यवाद की स्थापना होती है। कबीर का रहस्यवाद प्रेम और भावना मूलक है।

कबीरदास जी प्रयोगवादी व्यक्ति थे और समन्वय की भावना उनके हृदय में प्रधान रूप से कार्य करती थी। इस भावना के विषय में हम पिछले अध्यायों में भी लिख चुके हैं। कबीर की रहस्यवादी विचारधारा उक्त आधार शिला पर खड़ी अवश्य हुई है और उसमें प्रधान तत्व भी आध्यात्मिक और आदिभौतिक ब्रह्म-निरूपण से प्राप्त हुए हैं परन्तु फिर भी कहीं-कहीं उस पर सूफी प्रेम, हठयोगियों की शब्दावली तथा सिद्धों की संध्या-भाषा-शैली के प्रभाव परिलक्षित होते हैं। इन प्रभावों से रहस्य की भावना को और भी प्रश्रय ही मिला है; उसमें स्पष्टता नहीं आ सकी।

रहस्यवाद की आस्थाएँ

आस्तिकता—आस्तिकता रहस्यवाद की सर्व प्रथम आस्था है कि जिसके आधार पर इस भावना और विचार-धारा के सुसंगठित रूप को आगे बढ़ाया जा सकता है। कबीरदास जी पूर्ण रूप से आस्तिक थे, इसमें संदेह का कोई कारण नहीं। आपने तो नास्तिक मतावलम्बियों के विरुद्ध ही आवाज उठाई है:—

बौद्ध जैन और साकत सेना,
चार भाग चतुरङ्ग विहीना।

—(क० ग्रं० पृ० २४०)

हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं कि कबीर ने ब्रह्म के लिए 'शून्य' शब्द का
किया है। जहाँ तक शब्द को [illegible]ग करने का सम्बन्ध है वहाँ तक हो
है कि कबीर पर नाद और बिन्दु [illegible] का प्रभाव हो परन्तु आपने इसका
स्तिकों के अनुसार ग्रहण नहीं किया, यह भी यथार्थ सत्य है। कबीर ने
ब्द सम्बन्धी नाद-पंक्तियों में लिखा है। 'शून्य' 'नाद' इत्यादि अद्भुत
ौगिक सत्ताओं पर हम ब्रह्म-[illegible] के अंतर्गत लिखे चुके हैं कि इनमें
अखण्ड और सर्वव्यापी ब्रह्म के ही [illegible] के दर्शन किये हैं। कबीर के रह-
ी गोद में हम यौगिक रहस्यवाद को बैठा हुआ पाते हैं। जहाँ कबीर ब्रह्म
ापी अखण्ड इत्यादि कहते हैं वहाँ उसे 'शून्य मण्डलवासी' मानने में भी
ें आपत्ति नहीं। —

ऐसा कोई न मिलै, सब विधि देई बताय।
सुन्न मण्डल में पुरुष एक, ताहि रहे ल्यो लाई॥

—(क० ग्रं० पृ० ६७)

प्रेम और भावना—आस्तिकता के पश्चात् रहस्यवादी आत्मा का ब्रह्म
न्य हो जाने के लिए प्रेम और भावना की आवश्यकता है। कबीरदास जी
ौर भावना के लिए प्रायः 'भाव भगति' शब्द का प्रयोग किया है। जहाँ
ा और भक्ति का सम्बन्ध है कबीरदास जी ने भक्ति में सात्विक हृदय की
ानन्यासक्ति मानी है परन्तु जहाँ प्रेम का सम्बन्ध आता है वहाँ सूफ़ी-साधना
व लिया गया है।

गुरु की भावना—ब्रह्म में आस्था होने और आत्मा में ब्रह्म से मिलने
। तथा प्रेम का उदय होने के पश्चात् भी दोनों का मिलन उस समय तक
ीं है जब तक कि दोनों को मिलाने वाला कोई सद्गुरु न हो। वास्तव में
ारा ही हृदय में ब्रह्म के प्रेम का अंकुर जमता और पल्लवित होता है।
कबीरदास ने गुरु का बखान मुक्त कंठ से किया है और उनके विचार से
ाहत्व किसी भी प्रकार ब्रह्म से कम नहीं है। वह तो दोनों को साथ
देख कर असमंजस में रह जाते हैं कि पहिले किसके पैर उन्हें लगना
—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े,
काके लागूँ पाँव।

वास्तव में सद्गुरु ही ब्रह्म को दिखाने वाला है।[1] आपने तो स्पष्ट ही कहा है कि यदि गुरु योग्य नहीं होगा तो ब्रह्म से मेल नहीं हो सकता।

इस प्रकार ब्रह्ममें आस्था होने पर सत्गुरु की पहिचान होना और फिर उसके मार्ग प्रदर्शन पर भावना तथा साधना का आश्रय लेकर ब्रह्म तथा आत्मा के मिलन का जो वर्णन किया गया है वही कबीर का रहस्य-वाद है।

ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग की बाधाएँ—भावना और प्रेम की साधना द्वारा जब आत्मा गुरु-दीक्षा लेकर ब्रह्म-मिलन के मार्ग पर चलती है और आनन्द विभोर होकर ब्रह्म-मय होना चाहती है तो उसके मार्ग में माया अपना जाल बिछाकर खड़ी हो जाती है। कबीर के विचार से आत्मा के ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में माया ही सबसे बड़ा प्रतिबन्ध है। सूफियों ने माया के स्थान पर शैतान की कल्पना की है। *माया का चित्रण कबीर ने कंचन और कामिनी के रूप में किया है। कबीर ने माया* का प्रयोग नाम रूपात्मक अविद्या के लिए ही किया है। माया को कबीरदास ने भौतिक जगत् के विभिन्न रूपों में रख कर परखा है। कबीर ने अपनी साखियों में माया को दीपक, स्त्री, जल, वृक्ष, दवाग्नि इत्यादि अनेक रूपों में प्रकट किया है—

१. माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवैं पड़ंत।
२. कबीर माया डाकणी, सब किसही कौं खाइ।

आत्मा और परमात्मा के मिलन का यह आनन्द-भाव प्रारम्भ में स्थायी नहीं होता। माया छलना बीच में आकर इस मिलाप में बाधा उपस्थित कर देती है और आत्मा विरहावस्था को प्राप्त हो जाती है। आत्मा की इस दशा का वर्णन कबीर साहब ने विरहणी के रूप में किया है। आत्मा के परमात्मा बन जाने के मार्ग में यह आत्मा की तीसरी (कुमारी, सुन्दरी और विरहणी) अवस्था है। इस दशा में कबीर ने आत्मा में उठने वाली तड़प का बहुत ही सजीव चित्रण

---

[1] (१) सतगुरु की महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार॥

(२) जाका गुरु भी अन्धला, चेला खरा निरंध।
अन्धे अन्धा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत॥

(३) ना गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव।
दुन्यूँ बूड़े धार में, चढ़ि पत्थर की नाव॥

किया है।[1]

विरह-भावना के अन्तर्गत आपने विकलता, विवशता, परेशानी, चिन्ता, उन्माद, कृशता, मलिनता, खेद, क्रन्दन, आकुलता, विहलता, चिन्ता इत्यादि का मनोहर चित्रण किया है। कबीर का आध्यात्मिक विरह वर्णन बहुत ही मार्मिक बन पड़ा है। जायसी और सूर के विरह वर्णन भी इसके सामने फीके पड़ जाते हैं—

१. नैना नीझर लाइया, रहँट बहै निस जाय।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौ, कबरू मिलहुगे राम॥

—(कबीर वचनामृत-पृ० २६ पद २४)

२. यह तन जालों मसि करों ज्यों धुआ जाइ सरग्नि।
मतो वै राम दया करें बरसि बुझालें अग्नि॥

—(क० ग्रं० पृ० ६)

रहस्यवाद की अभिव्यक्ति दाम्पत्य प्रेम में ही सब से सुन्दर रूप से प्रस्फुटित होती है क्योंकि प्रेम की चरम परिणिती दाम्पत्य प्रेम में ही है। प्रेम की प्रधान प्रवृति भावना है और भावना अनुभूति का मूल श्रोत है। इसी के द्वारा रहस्यवाद की अभिव्यक्ति सम्भव है। रहस्यवाद चाहे कबीरदास का हो या जायसी का, उसमें दाम्पत्य प्रेम, भावना और ब्रह्मज्ञान की अनुभूति का होना नितान्त आवश्यक है। विरह की दशा में अनुति का प्रधान रूप से उद्रेक होता है और हृदय तन्मयता चरम सीमा पर पहुँच जाती है। कबीर ने तो स्पष्ट रूप से अपने को राम की बहुरिया माना है। कबीर ने भगवान को पुरुष रूप में ही स्वीकार किया है, यह पूर्ण रूप से भारतीय विचारधारा का प्रभाव है, सूफी सिद्धान्तों का नहीं। दाम्पत्य प्रेम के अन्दर मिलन, विरह और प्रियतम के लोक की मधुर कल्पनाएँ कवि ने प्रस्तुत की हैं।

आत्म-शुद्धि—कबीर के विचार मे आत्म-शुद्धि के बिना आत्मा को परमात्मा का ज्ञान होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। आत्म-शुद्धि के विषय में आपने कोई शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत न करके केवल नीति सम्बन्धी निर्देशन ही किया है। लोभ, काम, मोह, क्रोध, अहंकार, तृष्णा, कपट, कटुवचन इत्यादि से

---

१. बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसैं तुझ मिलन कूं, मनि नाहीं विश्राम॥

—(कबीर वचनामृत-पृ० २१, पद ४१)।

१. आइ न सकौं तुझ पैं, सकूं न तुझै बुलाय।
जियरा यूं ही लेहुगे, विरह तपाई तपाई॥

—(कबीर वचनामृत-पृ० २२, पद १०)।

जीवन को मुक्त रखने की ओर आपने संकेत किया है।[1]

साधना के साधन—कबीर ने साधकों और भक्तों के लिए ब्रह्म प्राप्ति के प्राय: सभी मार्गों का समन्वय करते हुए उधर अग्रसर होने का संकेत किया है। लक्ष्य एक ही है, मार्गों का अन्तर हो सकता है। आत्म-शुद्धि के लिए आत्मा को कठोर तपस्या करने की आवश्यकता है। जो व्यक्ति नैतिक नियमों को निभाने में असमर्थ हो वह प्रपत्ति-मार्ग अपना सकता है—

१. *'केवल राम जपहु रे प्रानी।'*
२. *'कबीर सुमिरण सार है।'*
३. *'कबीर निरभै राम जपि।'*
४. *'लूटि करै तो लूटियो राम नाम है लूटि।'*

---

१. (१) काम—

भगति बिगाड़ी कांमियां, इन्द्री केरै स्वादि।
हीरा खोया हाथ थैं, जनम गँवाया वादि॥

(२) अहंकार—

ऐसी वांणीं बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन शीतल करै, औरन कौं सुख होइ॥

(३) कटुवचन—

अणी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास।
चोट सहारै सबद की, तास गुरू मैं दास॥

(३) कपट—

कबीर तहां न जाइये, जहां कपट का हेत।
जालूं कली कनेर की, तन रातौ मन सेत॥

(४) क्रोध—

(१) ऐसा कोई नां मिलै, अपना घर देई जराइ।
पंचू लरिका पटकि करि, रहै रांम ल्यौ लाइ॥

(२) काम क्रोध सूं झूझणां, चौड़े मांड्या खे।

(४) कपट—

हृदय कपट हरि सो नाहीं सांचो।
कहा भया जो अनहद नाच्यो॥
—(क० ग्रं० पृ० २१८)

(५) सांच शील का चौका दीजै,
भाव-भगति की सेवा कीजै॥

[illegible] ने अनाहत के ही महत्व का उल्लेख किया है। [illegible] को तो कबीर ने स्पष्ट शब्दों में ही लिखा है—

> [illegible]
> [illegible] मुख मीठा।
> [illegible] पिया कुम्हारे॥
>
> —([illegible]-शब्द, पृ० ४३—पद ४०)

इसलिए [illegible] कबीर को [illegible] है। ध्यान, नाम, जप, [illegible] है। इस प्रकार की प्रवृत्ति में कबीर ने [illegible] का भी महत्वपूर्ण ढंग से प्रयोग किया है—

> १. [illegible]
> [illegible]।
> [illegible]
> [illegible]॥
>
> —(कबीर—पृ० २४४ पद २८)

> २. [illegible]।
>
> —(कबीर की विचारधारा पृ० २४७)

> ३. [illegible]
> [illegible]॥
>
> —(कबीर—पृ० २६२ पद ४३)

इन उद्धरणों से कबीर की योग-युक्ति का आभास मिलता है। आपने बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने की ओर संकेत किया है, आत्मा में केन्द्रित किया है, जिसके बिना साधना के पथ पर पैर रखना भी नितान्त असम्भव है।

प्रेम का साधन—अब जितने भी साधना के साधन हैं इन सभी की ओर कबीर ने यथा-स्थान संकेत किया है परन्तु भावातिरेकता और प्रवृत्ति का अनन्य साधन प्रेम ही है। आत्म-शुद्धि भी बिना प्रेम के सम्भव नहीं। आत्मा को ब्रह्म की भावनात्मक अनुभूति प्रेम द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। दाम्पत्य प्रेम के अन्तर्गत कुमारी, सुन्दरी और विरहणी के विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं। प्रेम की चौथी दशा सती की होती है जब वह प्रेमी पर अपना बलिदान देने को तय्यार हो जाती है। उस समय आत्मा अपने विशुद्ध रूप में सामने आती है और उसके जन्म मरण का संकट उससे छूट जाता है। प्रेम की यह अवस्था साधना और भावना के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, तर्क-वितर्क द्वारा नहीं यह अन्तिम लक्ष्य ज्ञान

की पहुँच से दूर है। यह अध्यात्म की अन्तिम सीढ़ी है जहाँ पहुँचकर साधक को ब्रह्म के दर्शन हो जाते हैं और वह ब्रह्म के अलौकिक रूप का अपनी अटपटी भाषा में चित्रण करना आरम्भ कर देता है। ऐसी दशा के विषय में डा० रामरतन भटनागर लिखते हैं "सच तो यह है कि कबीर आदि इन साधुओं के लिए जो प्रत्यक्ष था वह हमारे लिए रहस्य है। इस अनबूझपन पर कोई भी 'वाद' खड़ा करना उचित नहीं। फिर भी रहस्यवाद नाम से बड़े-बड़े महल खड़े हो रहे हैं।

कबीर के राम के सम्बन्ध में कुछ कहना ही नहीं है। कुछ कहा ही नहीं जा सकता। वह गुणों से परे होकर भी गुणों को लपेटे हुए हैं, फिर कोई क्या कहे? जीव और ब्रह्म एक ही हैं। जैसे बूंद समुद्र। इन दोनों की अद्वैतावस्था ही अन्तिम लक्ष्य है।"

एकरूपता—इसी दशा में पहुँचकर हमें आत्मा और परमात्मा की एकरूपता के दर्शन होते हैं। यहीं पर पहुँच कर कबीर एक प्रकार से बौखला उठते हैं और ब्रह्म के साथ सभी स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करने पर उतारू हो जाते हैं। जननी, स्वामी, पिता, पति, देवता, अगम्य, अगोचर, ब्रह्म, अनहद, सत्य, शब्द और न जाने क्या-क्या कहकर पुकारने लगते हैं। परन्तु इस समय जो कुछ भी सम्बन्ध हैं उनमें प्रेम और माधुर्य का अतिरेक स्वाभाविक ही है। यह भावना का चरमलक्ष्य है जहाँ सब कुछ मधुर-ही-मधुर है। आत्मा का तादात्म्य ब्रह्म के साथ हो जाता है और अपने को ब्रह्म के रूप में निरखने लगता है।[1]

आत्मा प्रेम-मार्ग पर चलकर ब्रह्म के पास पहुँचती है। इस मिलन और मिलन से पूर्व की परिस्थिति का कबीर ने बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। मिलन की आकांक्षा, प्रेरणा, अकुलाहट, तड़पन, भावनाओं का उद्रेक, जलन, प्रयास इत्यादि के आकर्षक चित्र अंकित किये हैं।

यहाँ तो मुक्ति की भी अभिलाषा समाप्त हो जाती है। विरहिणी की दशा देखिए—

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाहीं विश्राम॥

---

1. मोकों कहाँ ढूँढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में॥
ना तो कौन क्रिया-कर्म में, नहीं योग बैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं, पल भर की तालास में॥
मैं तो रहौं सहर के बाहर, मेरी पुरी मवास में।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में॥

Christian Mysticism is the doctrine, or rather the experience of the spirit--the realisation of human personality as characterised by and consumated in the indwelling reality, the will of christ which is God.

Canon R.C. Moberly

There are times when powers and impressions out of the course of mind's normal action and words that seem spoken by a voice from without, messages of myterious knowledge, of counsel or warning, seem to indicate the intervention, as it were, of a second soul. (This is mystic experience.)

(Attitude of C. F. Andrews summed up by the 'Leader' in its leading article of Jan. 4—1939.)

—('कबीर' डा० रामरतन भटनागर पृ० १५२)

कबीर के रहस्यवाद में हमें ठीक उक्त प्रकार की भावना के दर्शन होते हैं और यह विचार उनकी आध्यात्मिक प्रणाली के अन्तर्गत प्रवाहित होता दृष्टिगोचर होता है। कबीर ब्रह्म से इस प्रकार बातें करते हैं कि मानों दोनों एक दूसरे के बिलकुल निकट हैं और एक के मर्म से दूसरा अनभिज्ञ नहीं। ऐसी ही दशा में ब्रह्म को सामने देखकर जब कबीर वर्णन करते हैं तो उन्हें स्वयँ संदेह होने लगता है कि कहीं उनके इस रहस्यमय वर्णन पर कोई विश्वास भी करेगा अथवा नहीं —

१. भाई रे अदबुद रूप अनूप कथा है, कहौं तौ को पतियाई।
जहँ-जहँ देखों तहँ-तहँ सोई, सब घट रहा समाई॥

—(बीजक पृ० ३६ पद २७)

२. राम गुन न्यारो न्यारो न्यारो।
अबुझा लोग कहाँ लौ बूझैं, बुझनिहार बिचारो।

—(बीजक पृ० ३५ पद १८)

इस प्रकार कबीरदास जी ने अपने देखे हुए ब्रह्म का वर्णन करने में अपनी असमर्थता प्रकट की है। वह तो 'गूंगे के लिए गुड़ के समान है। केवल संकेतों द्वारा ही अभिव्यक्ति कराने का प्रयास किया गया है। इसी दशा को योगी 'उन्मनावस्था' और वेदान्ती 'जीवन-मुक्ति' कहते हैं। कबीर ने अपना संकेत सभी दिशाओं में किया है —

१. अविगत अकल अनूपम देखा, कहता कही न जाय।
सैन करै मन ही मन रहसे, गूंगे आनि मिठाय॥

—(क० ग्रं० पृ० ६०)

—(कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २७७ पद ७६)

यहाँ तक रहस्यवाद की अवस्था केवल साक्षात्कार की ही होती है परन्तु जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं एक अवस्था वह भी आती है कि जब अनिर्वचनीय का प्रश्न ही नहीं रहता और आत्मा परब्रह्म में मिलकर एकीकरण हो जाता है। यह पूर्ण रूप से विशुद्ध भारतीय अद्वैतवाद है। कबीर ने इसी के लिए 'बूँद का बूँद में समाना' कहा है।

कबीर के रहस्यवाद की विशेषता

कबीर के रहस्यवाद को हम पूर्ण रूप से भारतीय आध्यात्मिक आदर्शों का प्रतीक मानते हैं। कबीर की मान्यताओं पर यत्र-तत्र कुछ सूफी प्रभाव अवश्य है। परन्तु जहाँ तक ब्रह्म के मूलतत्त्व के निरूपण का सम्बन्ध है वह पूर्णतया अद्वैतवाद की साधारण प्रतिक्रिया मात्र है।

१. यौगिक प्रयास—ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करने के लिए योग भी भारतीय आध्यात्मिक आदर्शों में एक साधन है। यौगिक-ब्रह्म-मिलन का उपनिषदों और पुराणों में भी वर्णन मिलता है। योगी भी रहस्यवाद की प्रथम मान्यता, आस्तिकता, को मान कर चलता है और साधन के अष्टांग, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि; द्वारा उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करता है।

प्रेम से समागम होने के पश्चात् भी मार्ग में अनेकों बाधाएँ आती हैं। उन बाधाओं को चीर कर पार जाने वाली आत्मा ही ब्रह्म के रहस्य को जानकर उसमें विलीन हो सकती है।

७. ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने का संकल्प कर लेने वाली आत्मा के सामने माया अपना जाल बिछाती है।

८. इस माया के जाल को काटने के लिए आत्मशुद्धि और साधना की आवश्यकता है।

९. प्रेम के रूप में कबीर ने दाम्पत्य प्रेम को ही विशेष महत्त्व दिया है। आत्मा की चार स्थितियाँ—कुमारी, सुन्दरी, विरहणी और सती—का बखान किया है। आत्मा इन चारों स्थितियों को प्राप्त होने के पश्चात् ही ब्रह्म के निकट पहुँचती है।

१०. रहस्यवाद की अन्तिम अवस्था एकरूपता है। इसे अद्वैतवाद भी कहा जा सकता है।

११. रहस्यवाद अनिर्वचनीय है।

१२. कबीर का रहस्यवाद सीमित न होकर असीम है और रहस्य की सभी भावनाओं को अपने अन्दर ग्रहण करके चलता है।

माया स्त्री : ब्रह्म पति—श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं महेश्वरम्"—माया प्रकृति है और महेश्वर उसका स्वामी है। कबीर ने भी ब्रह्म को माया के भर्ता रूप में चित्रित किया है—

तेतो माया मोह भुलाना, खसम राम सो किनहु न जाना।
—(कबीर की विचार धारा पृ० २७८)

एकै पुरुष एक है नारी, ताकर करहु विचारा।
—(बीजक—शब्द पृ० ३०—शब्द ३)

कबीर के माया-निरूपण पर हमें प्रधान रूप से वेदान्त का ही प्रभाव दिखलाई देता है।

माया के भेद—कबीर ने माया के दो भेद माने हैं और उनका स्पष्टीकरण 'मोटी' और 'झीनी' के रूप में किया है। स्पष्ट ही है कि यह शब्द अविद्या रूपणी और विद्या रूपणी माया के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

संक्षेप में कबीरदास की माया विषयक मान्यता इस प्रकार ठहरती है—

१. कबीर के मायावाद पर पुराण, भागवत और शंकराचार्य का प्रभाव है।

२. शंकर द्वारा प्रस्तुत माया का अनिर्वचनीय रूप ही कबीर को मान्य रहा है।

३. कबीर ने माया में प्रसव धर्म और त्रिगुणात्मिका वृत्ति को माना है। यह सांख्यों का स्पष्ट प्रभाव है।

४. कबीर ने माया का भावनात्मक वर्णन किया है।

५. शुभ कार्य में बाधा स्वरूप माया का कबीर ने वही रूप लक्षित किया है जो सूफी लोग अपने शैतान का समझते हैं।

६. कबीर ने माया का विस्तार जल, थल और आकाश सभी स्थानों पर समान रूप से माना है।

७. कबीर की माया मन को सबसे अधिक अपने वश में करके चलती है।

दर्शन का निरूपण

दार्शनिक बनने की चेष्टा कबीर में न पाते हुए भी दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण और स्पष्टीकरण हमें कबीर की रचनाओं के अंतर्गत स्पष्ट दिखलाई देता है। आपने अनेकानेक दर्शनों को आत्मसात किया है और कुछ अपने निश्चित

सिद्धान्त और दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किये हैं। यहाँ हम उन्हीं पर संक्षेप में विचार करेंगे।

दार्शनिक क्षेत्र में कबीर को हम अद्वैतवाद के ही अधिक निकट पाते हैं। अद्वैत यों भारत में १८ प्रकार का माना गया है परन्तु इनमें तीन प्रधान हैं—

१. शब्दाद्वैत।

२. विज्ञानाद्वैत।

३. सत्ताद्वैत।

अद्वैतवाद के उक्त तीन रूपों में कबीर को हम शब्दाद्वैत के अधिक निकट पाते हैं। आपने शब्द ब्रह्म का मूल रूप से प्रतिपादन किया है। यही कबीर का 'शब्द-सुरतियोग' है और इसी का विकास हम आपकी अद्वैत-भावना के अंतर्गत देखते हैं।[1]

कबीर की रचनाओं को ध्यान पूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें न तो विशिष्टाद्वैत वाद ही अपनी ओर प्रभावित कर सका और न केवल द्वैतवाद ही। विशुद्ध अद्वैत की ही झलक हमें उनकी रचनाओं में मिलती है। आपकी मोक्ष-भावना में ब्रह्म और आत्मा का विशुद्ध तादात्म्य निहित है। आपने—

१. ब्रह्म के निर्गुण और अव्यक्त स्वरूप को स्वीकार किया है।

२. सगुण का निर्गुण में सर्वदा विलीन रहना दूध में दही के समान माना है।

३. वेदान्ती विचार धारा के अनुसार आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं माना। केवल माया का आवरण ही दोनों को प्रथक किये हुए है। यही आपकी धारणा है।

४. आत्मा को ब्रह्म की ही भांति अनिर्वचनीय कहा है।

५. आत्मा को स्वयँ प्रकाशमान गिना है और ज्ञान स्वरूप कहा है।

---

१. (१) सब्द हमारा आदि का, सब्दै पैठा जीव।
फूल रहनि की टोकरी, घोरे खाया घीव॥
—(कबीर—बीजक—साखी—पृष्ठ ९२—पद २)

(२) सब्दै मारा गिरि पड़ा, सब्दै छोड़ा राज।
जिन-जिन सब्द विवेकिया, तिनकौ सरिगो काज॥
—(कबीर—बीजक—साखी—पृ० ९२—पद ६)

(३) अंतर जोति सब्द यक नारी, हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी।
—(कबीर—बीजक— रमैनी-पृ० १)

६. जगत को माया का खेल और मिथ्या भ्रम मात्र माना है ।

७. अंशांशि भाव में अद्वैत की ही भावना पलती है ।

९. जीव के मुक्त रूप में और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं माना ।

१०. प्रतिबिम्बवाद और विवर्तवाद, जो कि अद्वैतवाद के ही अंग हैं, की भावना अपनी रचनाओं में प्रखरता के साथ निहित की है ।

उक्त बातें कबीर की अद्वैत-भावना से मिलती हैं फिर भी हम कबीर को पूर्णरूपेण भारतीय अद्वैतवादी दर्शन का समर्थक नहीं मान सकते । सिद्धान्त रूप से कई बातों में कबीर का मतभेद है—

१. कबीर का विश्वास ज्ञान में रहते हुए भी भक्ति में कुछ कम नहीं रहा । साथ ही सूफ़ी-प्रेम की भी उनके विचारों पर अच्छी छाप है ।

२. कबीर ने श्रुति-प्रमाणों को नहीं माना ।

३. कबीर का ब्रह्म और आत्मा का निरूपण जहाँ एक ओर अद्वैत भावना से प्रेरित है वहाँ उस पर एकेश्वरवाद, द्वैताद्वैत विलक्षणवाद और शून्यवाद का भी प्रभाव है ।

४. जीव के विषय में आपको सूफ़ियों का मत मान्य है कि जीव ब्रह्म में से निकला हुआ है ।

इस प्रकार हमने देखा कि कबीर का अद्वैती स्वरूप न तो शंकर से ही पूर्णतया मेल खाता है और न किसी अन्य आचार्य से ही । आपके निरूपण में हमें सर्वत्र आपकी समन्वयकारिणी प्रतिभा के दर्शन होते हैं । आपने तो अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के प्रधान तत्व ज्ञान और भक्ति का भी सामंजस्य स्थापित किया है ।

प्रकृति का निरूपण

कबीरदास ने प्रकृति का निरूपण मिथ्या रूप में किया है । संसार को स्वप्न तुल्य वेदान्ती तथा बौद्ध दोनों ने ही माना है, परन्तु कबीर की विचार-धारा पर हमें पूर्णरूपेण शंकराचार्य के मायावाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । बौद्धों ने जहाँ संसार को एकदम स्वप्नवत् कह दिया है वहाँ शंकर ने उसे केवल आत्मा की तुलना में स्वप्नवत् कहा है । बौद्धों और शंकराचार्य के मत भेद को मैक्स-मुलर साहब इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

Even the existence, apparent and illusory of a material world requires a real substratum which is Brahman. Just as the appearance of the snake in the simile requires the real substratum of a rope. Buddhist philosophers held that everything is empty and unreal and that all we have and know are our perceptions only. Shanker himself argues most strongly against this

extreme idealism and enters upon [illegible] argument against the nihilism of Buddhists. The Vedanta [illegible] ever that though we perceive perceptions only, these perceptions are always perceived as perceptions of something.

—Max Muller's Indian Philosophy—PP. 209-11.

बौद्धों के मायावाद के कारण ही [illegible] शून्य मानकर ईश्वर में भी आस्था नहीं पाई जाती, परन्तु शंकराचार्य का मत इससे सर्वथा भिन्न है। शंकर ने ब्रह्म को आधार मानकर सृष्टि का आधार माना है। बौद्ध लोग इसे सर्वथा आधार विहीन मानते हैं। इस प्रकार दोनों सिद्धान्तों में महान् अन्तर है।

कबीर की विचार-धारा में शंकर के मायावाद की झलक है। कबीर आस्तिक थे एवं इस दृष्टि से शंकर की भाँति समस्त सृष्टि को ब्रह्ममय मानते थे।[1]

सृष्टि-उत्पत्ति में भी कबीर ने निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को माना है। कबीर का यह मत भी बौद्धों के शून्यवाद के विपरीत है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के वर्णनों में भी इसी प्रकार का वर्णन है।

इस प्रकार हम कबीर को शंकर के वेदान्त के ही अधिक निकट पाते हैं। बौद्धों के नास्तिक शून्य की उनकी रचनाओं में जो झलक दृष्टिगोचर होती है वह केवल शून्य शब्द का प्रयोग मात्र है और वह भी कबीर ने हर स्थान पर ब्रह्म के लिए ही किया है। अद्वैत वेदान्त के प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद, विवर्तवाद और अध्यात्मवाद इत्यादि की झलक हमें कबीर की विचार-धारा में स्पष्ट दिखलाई देती है। आपका सृष्टि-विकास का क्रम एकदम वेदान्तियों से साम्य रखता है। बौद्धों के नास्तिक शून्यवाद तथा सांख्यों के द्वैतवाद की चाहे झलक कहीं पर हमें कबीर-साहित्य में भले ही मिल जाय परन्तु उससे हम कवि के दार्शनिक-सिद्धान्तों को स्थापित नहीं कर सकते।

सृष्टि के विकास पर महाकवि कबीर ने कहीं पर भी व्यवस्थित रूप से प्रकाश नहीं डाला। शब्दाद्वैतवादियों के मतानुसार आपने ओंकार से भी सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। वैसे कबीर जगत् को सेंवल के फूल[2] के समान मानते हैं;

---

1. जो तुम देखो सो यह नाहीं,
यह पद अगम अगोचर माहीं।
—(क० ग्रं० पृ० १३३)

2. यौ ऐसा संसार है जैसा सेंवल फूल।
दिन दस के व्योहार को झूठे रंगि न भूल॥
—(क० ग्रं० पृ० २१)

अर्थात् जगत् सत्य होकर भी सारहीन ही है। इस प्रकार वेदान्त के अनुसार आप जगत को मिथ्या ही मानते हैं।

कबीर की आध्यात्मिक मान्यताओं को समझने के लिए हमें उनकी मूल विचार-धारा तक पहुँचने में कठिनाई होती है। इसका प्रधान कारण यह है कि वह जिस-जिस सम्प्रदाय के जन-समुदाय में अपने मत का प्रचार करने के लिए गये हैं, वहाँ वहाँ उन्होंने उसी समुदाय की शब्दावली का प्रयोग किया है। सूफियों में बैठ कर आपने सृष्टि-विकास-क्रम का वर्णन करते हुए 'नूर' शब्द का प्रयोग किया है तथा बौद्ध-धर्मावलम्बियों के मध्य 'शून्यवाद' का।

अन्त में सृष्टि के सम्बन्ध में कबीर का स्पष्ट मत यही जान लेना पर्याप्त होगा कि आपने-सांख्य शास्त्र के विकास-क्रम को मान्यता देने पर भी वेदान्त के ही मत को प्रधानता देकर प्रकृति को अलौकिक और ब्रह्माश्रित माना है। सूफ़ी और बौद्ध शब्दावली का प्रयोग केवल उन मतावलम्बियों पर अपना विचार प्रकट करने के लिए ही कवि ने किया है। इन शब्दों से हम कवि की उनके सिद्धान्तों में मान्यता नहीं मान सकते।

भक्ति का निरूपण

मध्ययुग में भक्ति का प्रवाह उस काल के वैदिक धर्माचार्यों द्वारा प्रस्तुत एक क्रांति का बीजारोपण था जिसने नीरस पद्धति के विरुद्ध भारत की जनता में सरसता और सहकारिता को लाने का प्रयास किया। नाथ-पंथी योग-पंथ से अंधी जनता को निकाल कर जीवन के उस प्रवाह पर आश्रित किया कि जहाँ वह जीवन के प्रति उदासीनता से मुक्त होकर सरस रस-धार में प्रवाहित हो सके।

मध्य युग में विविध दार्शनिक वादों ने जन्म लिया, इसका संक्षेप में उल्लेख हम पुस्तक में पीछे कर चुके हैं। स्वामी रामनुजाचार्य ने इस काल में भक्ति-भावना के प्रवाहित करने में विशेष सहयोग दिया और फिर उनके शिष्य श्री रामानन्द जी ने उसके प्रसार में अपना जीवन लगा दिया। जो भक्ति-शृंखला रामानुजाचार्य ने बनाई उसमें रामानन्दजी ने और कुन्दे डाल कर उसे मजबूत किया और उनकी विचार-धारा को परिवर्धित करने का मुख्यतः श्रेय आपको ही है।

महाकवि कबीर ने भी आचार्य रामानन्द जी से ही दीक्षित होकर भक्ति-भावना का प्रसार भारत की जनता में किया। किसी भक्त-कवि ने लिखा भी है—

भक्ति द्राविण ऊपजी लाए रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्त दीव नव खण्ड ॥

आचार्य रामानुजाचार्य ने भक्ति-मार्ग में नारद को आदर्श-स्वरूप ग्रहण किया है। कबीर प्रधान रूप से नारद-भक्ति-परम्परा से प्रभावित दीख पड़ते हैं परंतु

प्रभाव उनपर श्रीमद् भागवत और श्रीमद् भगवद् गीता का भी है क्योंकि इस काल के भक्ति-क्षेत्र में इन ग्रन्थों की विशेष मान्यता रही है।

नारद-भक्ति-सूत्र में भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग तीनों से श्रेष्ठ माना है। कबीरदास ने भी भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ माना है, कबीर की भक्ति-भावना इस बात में उपनिषद की नकल सी प्रतीत होती है परन्तु मोक्ष प्राप्ति का साधन आपने भी भक्ति को ही माना है। "महाराष्ट्र के साधु सन्त ज्ञानदेव आदि ने भक्ति का समर्थन, मायावाद और अद्वैत को स्वीकार करके किया। उनके मत में भी मोक्ष-प्राप्ति का सबसे सुगम साधन भक्ति ही है। इसी परम्परा में कबीर आदि सन्त भक्ति का आलम्बन निर्गुण या अव्यक्त को मानकर चले।"

—(कबीर वचनामृत पृ० ६१)

संत कबीर के विचार से आत्मा का जन्म-मरण से मुक्त होना केवल भक्ति द्वारा ही सम्भव है —

भाव भगति बिस्वास बिन, कटै न संसै सूल
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुक्ति नहीं रे मूल

—(क० ग्रं० पृ० २४६)

भक्ति-भावना में जाप करने के विषय में कबीर ने बहुत सुन्दर दोहे लिखे हैं—

कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।
तेल घटया बाती बुझी, सोवैगा दिन राति॥

× × × ×

मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि॥

महाकवि कबीर ने तो योग को भी भक्ति के बिना व्यर्थ ही माना है—

हिरदै कपट हरि सूं नहिं साँचौ, कहा भयौ जो अनहद नाच्यौ

—(कबीर की विचार-धारा—पृ० ३२५)

भक्ति के रूप

भक्ति का निरूपण विविध आचार्यों और कवियों ने विविध रूप से किया है। इसी लिए उनकी परिभाषाओं में भी थोड़ा बहुत अन्तर आगया है। व्यास मुनि के मतानुसार पूजा इत्यादि के अन्दर ही प्रगाढ़ प्रेम होने को भक्ति कहते हैं। दूसरे मत के अनुसार कीर्तन इत्यादि में विशेष रूप से रत होना भक्ति है। तीसरा मत शांडिल्य का है जिसके अनुसार आत्मा में तीव्र रति को भक्ति माना है। चौथे मतानुसार ईश्वर में परम अनुरक्ति होना भक्ति है। निष्काम भाव

से परमात्मा में लय होना या स्नेह पूर्वक ईश्वर में अपने हृदय की भावनाओं को विलीन कर लेने का नाम भी भक्ति है। इस प्रकार हम भक्ति के विविध रूपों में प्रेम और अनुराग के तत्व की प्रधानता पाते हैं।

महाकवि कबीर ने अपनी भक्ति-भावना में प्रेम-तत्व को प्रधानता दी है। कबीर की नारदी भक्ति विशेष रूप से प्रेम-तत्व की ही घोषणा करती है। नारद-भक्ति सूत्र के प्रभाव के साथ-ही-साथ कबीर पर उनकी समकालीन सूफी प्रेम-भावना का भी प्रभाव कम नहीं था। ईश्वर से प्रेम और इश्क की जो भावना सूफियों ने भारतीय वातावरण में प्रसारित की उसका प्रभाव कबीर पर पड़े बिना न रह सका और जहाँ तक शब्दावलियों के प्रयोग से हमारा सम्बन्ध है वह तो हम ऊपर ही स्पष्ट रूप से लिख चुके हैं कि कबीर ने जहाँ से भी जो शब्द उन्हें अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए मिला है उसे बहुत ही उदारता के साथ ग्रहण कर लिया है। कबीर के शब्दों की इस भूल भुलैया में कबीर के पाठक को खो नहीं जाना चाहिए। सूफी 'प्रेम पियाला', 'प्रेम रसायन', और 'खुमार' इत्यादि शब्द कबीर की कविता में चाहे जितने भी खोजे जा सकते हैं—

१. *हरि रस पीया जानिये जे कबहुँ न जाय खुमार।* क० ग्रं० पृ० १६
२. *राम रसायन प्रेम रस पीवत अधिक रसाल।* क० ग्रं० पृ० १

—(कबीर की विचारधारा—पृ० ३२८)

हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस बासुरि सुख निधि लह्या, जब अन्तरि प्रगट्या आप॥

ईश्वर के प्रति प्रेम-भाव से अनन्य भक्ति में कबीर ने त्याग और तपस्या को विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। 'विरहणी'[1] आत्मा जब त्याग की चरम सीमा पर पहुँच जाती है तभी उसे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। 'सूर' और 'सती'[2] के रूपकों में भी कबीर की इसी त्याग और तपस्या की भावना का स्पष्टीकरण होता है।

कबीर ने भक्ति का निरूपण करते अनेक रूप में आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार करने का सफल प्रयास किया है। 'सती' और 'सूर' की स्थिति के पश्चात्

---

१. (१) बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम बियोगी न जिवै, जिवै त बौरा होइ॥
(२) जो रोऊँ तो बल घटै, हँसौं तो राम रिसाइ।
मन ही माँहि बिसूरणां, ज्यूँ घुंण काठहि खाइ॥
२. सती बिचारी सत किया, काठौं सेज बिछाइ।
ले सूती पिव आपणा, चहुँ दिसि अगनि लगाइ॥

जब आत्मा स्वामी की कृपा से सब कुछ पा लेती है तो वह सांसारिक शोक, ताप, मोह और परेशानियों से मुक्त हो जाती है। भक्ति की यह चरम सीमा है। जब भक्त को किसी भी वस्तु की इच्छा भी नहीं रहती। संसार के प्रति उसकी ममता समाप्त हो जाती है और सब कुछ से सम्बन्ध उससे नहीं रहता। नारद-भक्ति-सूत्र में जो भक्ति की चरम सीमा बताई है, कुछ-कुछ इसी प्रकार की शब्दावली में व्याख्या की गई है।

कबीर साम्प्रदायिकता के पक्षपाती नहीं थे। उनके सामने तो हिन्दू, मुसलमान, सिख इत्यादि सभी समान थे। इसलिए उन्होंने सभी को साथ लेकर चलने वाले भक्ति-मार्ग की भावना में आस्था स्थापित की है। कबीर का प्रभु के चरणों में आत्म-समर्पण और आत्म-निवेदन इसीलिए किसी विशेष सम्प्रदाय के आदर्शों से सम्बद्ध नहीं है। जाति, पाँति, वर्ण, धर्म सब आपकी प्रेम-धारा में प्रवाहित होकर एक हो गये। रामानन्द के शिष्य होने पर भी आपने अपने को वैधी-भक्ति तक ही सीमित नहीं रखा। कबीर की भक्ति पूर्ण रूपेण रागानुगा भक्ति थी। इस भक्ति का मूलाधार प्रेम ही है।

रागानुगा भक्ति के दो रूप—रागानुगा भक्ति (१) काम रूपा और (२) सम्बन्ध रूपा दो प्रकार की होती है। सम्बन्ध रूपा भक्ति दास्य, सख्य, वात्सल्य दाम्पत्य चार प्रकार की होती है। कबीर ने प्रभु की इन चारों ही रूपों में भक्ति की है।

भक्ति के साधन—भक्ति की इस चरम सीमा को प्राप्त करने के लिए नारद-भक्ति-सूत्र में विषय और कुसंगति के त्याग को साधन स्वरूप ग्रहण किया गया है। विषय और कुसंगति के त्याग से आत्मा में चरित्र-बल की प्रतिष्ठा होती है और भावना की तल्लीनता के लिए फिर लोक समाज में भगवान्-गुण-गान और कीर्तन का सहारा लिया जाता है। परन्तु इन साधनों के होने के उपरान्त भी भक्ति भगवद्-कृपा पर ही अवलम्बित है और इसीलिए राम नाम के जाप का विशेष महत्व वर्णित है।

महाकवि कबीर ने भक्ति साधना के क्षेत्र में उक्त सभी साधनों को स्वीकार किया है और उनकी वाणी में सभी के सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं—

भजन—

भगति भजन हरि नांव है, दूजा दुःख अपार।
मनसा वाचा करमना, कबीर सुमिरण सार॥

—(कबीर वचनामृत, साखी भाग पृ० १२)

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहि आहि ।
अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि ॥
—(कबीर वचनामृत, साखी भाग, पृ० १२)

कनक कामती त्याग —

एक कनक अरु कामनी, दोऊँ अगनि की झाल ।
देखें ही तन प्रजलै परस्यां ह्वै पैमाल ॥
—(कबीर वचनामृत, साखी भाग, पृ० १६७)

संगति—

कबीर संगति साधु की वेगि करीजै जाइ ।
दुरमति दूरि गँवाइ सो देवी सुमति बताइ ॥
—(कबीर वचनामृत, साखी भाग, पृ० १४३)

कुसंगति-त्याग—

मारे मरूँ कुसंग की, केला काठे बेरि ।
वो हाले वो चीरिए, साषित संग न बेरि ॥

भक्ति के साधनों में कबीरदास जी ने गुरु-कृपा, ईश्वर-कृपा, पूर्व संस्कार, महात्माओं की कृपा इत्यादि को भी मान्यता दी है। इन सभी साधनों में सद्गुरु का मिलना कबीरदास जी के विचार से बहुत महत्वपूर्ण है और वह मिलता भी भगवद्-कृपा से ही है—

जब गोविन्द कृपा करी तब गुरु मिलिया आय ।

गुणगान—

गोब्यन्द के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै माँहि ।
डरता पाणी नां पीऊं, मति वै धोये जांहि ॥
—(कबीर वचनामृत, साखी भाग—पृ० ६२)

स्मरण —

कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति ।
तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन राति ॥
—(कबीर वचनामृत, साखी भाग—पृ० ६३)

विरह-तत्व

कबीर की भक्ति-भावना में हमें विरह-तत्त्व की प्रधानता मिलती है और भगवान् का साक्षात्कार करने की दशा से पूर्व विरह की संवेदना का पराकाष्टा तक पहुँच जाना कवि ने अवश्यम्भावी माना है। विरह की भावना यों तो भारतीय साहित्य और दार्शनिक विचार-धारा के अंतर्गत प्राचीन काल से चली आती है परन्तु इस

और अव्यक्त, दोनों का समावेश किया है।[1]

निराकार की उपासना करना सरल कार्य नहीं, यह रहस्य कबीरदास नहीं जानते थे, ऐसी बात नहीं। इसीलिए आपने भक्तों को आत्मा से भक्ति करने का मार्ग सुझाया है।

कबीर की भक्ति की विशेषताएं

कबीर की निर्गुण-भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता निष्कामता है और निष्कामता पर कबीर ने पूरा-पूरा प्रकाश डाला है। कबीर के विचार से तो व्यक्ति सकाम रहकर निर्गुण भक्ति कर ही नहीं सकता। निर्गुण भक्ति का जीवन में समावेश होते ही जीवन में शान्ति और निष्कामता का असीम सागर लहरें मारने लगता है। कबीर की भक्ति का भागवत की त्रिगुणातीत भक्ति से बहुत साम्य है। आत्मा को भगवान् की प्राप्ति इन तीनों गुणों से ऊपर उठकर ही होती है —

चौथे पद को जो नर चीन्हैं,
तिनहि परम पद पाया।

—(क० ग्र० पृ० २७२)

कवि ने अपनी भक्ति में आचरण की उच्चता पर विशेष रूप से बल दिया है। काम, लोभ और मोह से आत्मा को जहाँ तक बन सके दूर ही रहने का आदेश दिया है। साथ ही आपने नास्तिकों के सम्पर्क से दूर रहने की भी प्रेरणा की है। अभिमान और दुर्गुणों को त्यागने की ओर भी उपदेश है। दुष्ट-संगति से दूर और शिष्ट-संगति में श्रद्धा रखने पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है। स्त्री से जहाँ तक बन पड़े दूर ही रहने की ओर कबीरदास ने संकेत किया है। धन और कामिनी को अपने भक्ति के मार्ग में कण्टक माना है और इसी लिए इनकी खुलकर निन्दा की है। कबीर ने भोग विलास और खाने पीने में मस्त रहकर भगवान् को भुला देने वालों की भी निन्दा की है—

नाना भोजन, स्वाद सुख, नारी सेती रंग।
बेगि छांड़ि पछताएगा, ह्वै है मूरति भंग॥

× × ×

नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासै होइ।
भगति, मुकति, निज ग्यान में, पैसि न सकई कोई॥

—(कबीर वचनामृत-साखी भाग—पृ० ११६)

---

१. ऐसा कोई नाँ मिलै, सब विधि देइ बताइ।
सुनि मंडल मैं पुरिष एक, ताहि रहै ल्यौ लाइ॥
—(कबीर वचनामृत—साखी भाग—पृ० २६)

एक कनक अरु कांमनी, विष फल कीएउ पाइ।
देखैं ही थैं विष चढ़े, खायें सूं मरि जाइ॥

इस प्रकार आपने काम, क्रोध, लोभ, मोह, कपट, अभिमान, तृष्णा, कुसंगति इत्यादि सभी दुर्गुणों की निन्दा करते हुए इन्हें भक्ति के मार्ग में बाधक माना है। भक्त के लिए इन सभी का त्याग नितान्त आवश्यक है क्योंकि इनके रहते आत्मा पंकिल ही रहती है और भगवद्-भक्ति में विशुद्ध श्रद्धा और सचाई के साथ रत नहीं हो सकती।

प्रपत्ति परता—कबीर ने रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित प्रपत्ति-मार्ग की परम्परा को भी अपने भक्ति-क्षेत्र में निभाने का प्रयास किया है। भगवान् की शरण में जाने के लिए ही कबीर की भक्ति है—

कहत कबीर सुनहु रे प्रानी, छांड़हु मन के भरमा।
केवल नाम जपहु रे प्रानी, परहु एक की सरना॥

—(क० ग्र० पृ० २६७)

यह प्रपत्ति की भावना हमें कबीर की बहुत सी रचनाओं में मिलती है और इसी के आधार पर आपने अपनी भक्ति का द्वार वर्ण-व्यवस्था से मानव को मुक्त करते हुए खोल दिया। जात पांत की संकीर्णता से ऊपर उठकर कबीर ने मानव-मात्र के लिए अपनी भक्ति का स्रोत बहाया और भगवान् के दरबार में आपने सभी जातियों को समान पद पर स्थापित किया।

सद्गुण और सदाचरणों पर कबीर ने प्रधान रूप से बल दिया है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। सद्गुण और सदाचरण ही भगवान् को अच्छे लगते हैं और भगवान को अच्छे लगने वाले कृत्यों की मान्यता में विश्वास और उन पर आचरण करना ही प्रपत्ति के अंगों को निभाना है। कबीर ने प्रपत्ति-आत्म निवेदन—के प्रायः सभी अङ्गों को निभाया है।

भगवान् के अनुकूल कार्य करना तथा प्रतिकूल का विसर्जन—मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जो भगवान् को भला लगे, रुचे और जिससे भगवान् प्रसन्न हों। इसी लिए उसे ऊपर जितने भी बुरे कर्म गिना आये हैं उनसे दूर ही रहना चाहिए। असन्त और कपटी लोगों की संगीत नहीं करनी चाहिए—

कबीर तासूं प्रीत करि, जो निरवा है ओड़ि।
वनिता विविध न राचिए, देपत लागे पोडि॥
कबीर तहाँ न जाइये जहां कपट का हेत।
जालूं कली कनेर की, तन रातो मन सेत॥

—(कबीर वचनामृत, साखी भाग-पृ० १८८)

जहाँ असंगति के त्याग पर कबीर ने बल दिया है वहाँ साधु की संगति की भी सराहना की है—

कबीर सोई दिन भला, जा दिन संत मिलाहि ।
अङ्क भरे भरि भेटिया, पाप सरी रो जांहिं ॥

—(कबीर वचनामृत-पृ० १४४)

भगवान की रक्षा में विश्वास—प्रपत्ति का तीसरा गुण यह है कि भक्त को भगवान् की दया और उनकी रक्षा में अटूट विश्वास होना चाहिए। आस्तिकता की यही चरम सीमा है। 'राम भरोसे' का गुणगान कबीर की वाणी में अनेकों स्थान पर मिलता है।

अब मोहि राम भरोसा तेरा, और कौन का करौं निहोरा।

—(क० ग्र० पृ० १२४)

भगवान्-ध्यान—प्रपत्ति का चौथा गुण भगवान् का एकान्त ध्यान है। इसमें भक्त एकान्त में बैठकर ईश्वर के गुणों में रीझता हुआ उसकी महिमा का वर्णन करता है। कबीर ने इस प्रकार की तल्लीनता के विषय में अनेकों संकेत किये हैं।

मेरा मन सुमिरै राम कूँ। मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा। सीस नवावौं काहि ॥

—(कबीर वचनामृत—साखी भाग-पृ० १३)

दीनता—दास्य भावना की भक्ति के अंतर्गत दीनता का आना स्वाभाविक ही है। आत्म निवेदन करते समय भक्त अपने को अकिंचन मानकर भगवान् की शरण में पहुँचाता है। यह भगवान् के दरबार में भक्त का नम्र निवेदन होता है। कबीर ने इस भावना के बहुत से पद लिखे हैं—

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाऊँ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाऊँ ॥

× × × ×

कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसैं रहा, ज्यूँ पाऊँ तल घास ॥

उक्त पदों में कबीर दास ने दीनता की हद करदी है। [यहाँ हमने कबीर की भक्ति के साधनों और उनकी विचार धारा पर संक्षेप में विचार करके देखा कि इन्होंने भक्ति के क्षेत्र में भगवान् की कृपा का ही विशेष रूप से आश्रय लिया है। क्रियात्मक प्रयास अर्थात् योग इत्यादि साधनों की ओर कोई विशेष बल नहीं दिया। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आपने योग की निन्दा की है। निन्दा

आपने भगवन्-मिलन के किसी प्रतिष्ठित साधन की नहीं की बल्कि थोड़ा बहुत जितना बन पड़ा है, समर्थन ही किया है।

योग मिश्रित भक्ति—कबीर ही केवल एक विचारक हैं कि जिसने भक्ति और योग का सम्मिश्रण करने का प्रयास किया है। हठ योग और प्रेम योग के साधना-क्षेत्र में आपने भक्ति की जो प्रतिष्ठा की है उससे विभिन्न प्रकार की प्रचलित समकालीन विचार धाराओं में आपने वह साम्य स्थापित करने का प्रयास किया है कि जिससे आस्तिक जनों की विचारावलियों का सामूहिक सम्बन्ध होकर एक अबाध भक्ति का प्रसार हो। जिसमें छोटे बड़े सभी वर्गों के ज्ञानी तथा अज्ञानी व्यक्ति समान रूप से बह सकें, भगवन्-भक्ति कर सकें और भगवान् के आनन्दमय स्वरूप का दर्शन कर उस रस का रसास्वादन कर सकें जो जीवन को चिर शांति, चिर मंगल प्रदान करने वाला हो।

योग का निरूपण

योग विषय भारत का प्राचीन विषय है। कई स्थानों पर ऋगवेद, संहिताओं में भी योग का वर्णन मिलता है और यजुर्वेद, अथर्वेद, सामवेद और उपनिषदों इत्यादि में तो योग का बहुत महत्त्वपूर्ण निर्देशन किया गया है। पतंजलि के योग-सूत्र में हमें इसकी विशेष प्रतिष्ठा मिलती है। परन्तु इन सभी ग्रन्थों में योग एक विशेष दार्शनिक तथा पारिभाषिक अर्थ के साथ ही ग्रहण किया गया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तक ही यह सीमित था। परन्तु आगे चलकर योग शब्द का प्रयोग भगवान् और आत्मा के तादात्म्य में बहुत से स्थानों पर प्रतिष्ठित किया गया है। गीता में योग के १८ प्रकार माने हैं। परन्तु बाद में प्रतिष्ठा केवल अष्टाङ्ग और उनके आधार पर बने हठ योग, राज योग, तप योग और मंत्र योग की ही रही।

महाकवि कबीर ने उक्त सभी प्रकार के योगों का सूक्ष्म निरीक्षण करने के पश्चात् सहज योग को प्रतिपादित किया। आपका सहज योग प्रपत्ति मूलक था, जिसका नामकरण बाद में जाकर भक्ति योग भी पड़ा। योग के अंतर्गत आपने सत स्वरूप का मण्डन और असत स्वरूप का खण्डन किया है। योग के जटिल स्वरूप का कबीर ने सरल स्वरूप में जनता के सामने प्रस्तुत किया है। अनेक रूपता को एक रूपता में वर्णित करना कबीर का प्रधान लक्ष्य रहा है। योग के वर्णन में भी आपने इसी सिद्धान्त को निभाया है। नाथपंथी और रामानन्दी पंथी अवधूत योगियों की तामसिक प्रणालियों का खण्डन कर कबीर ने सात्विकता का प्रतिपादन किया। इन पथ-भ्रष्ट अवधूतों को समझाने के लिए कबीर दास ने अनेकों उक्तियाँ कही हैं—

अवधू, सो योगी गुरु मेरा, जो या पद कौ करै निबेरा।
तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलाँ फल लागा।
साखा पत्र कछू नहिं वाकै, अष्ट गगन मुख बागा॥
पैर बिन निरति कराँ बिन बाजे, जिभ्या हिणा गावे।
गावणहार के रूप न रेखा, सत गुरू होई लखावै॥
पंखी का खोज मीन का मारग कहै कबीर विचारी।
अपरंपार परसोत्तम वा मूरति की बलहारी॥

—(क० ग्रं० पद १६५)

इस प्रकार अवधू के ज्ञान को भी कबीर दास ने चुनौती दी है।

कबीर की रचनाओं का निरीक्षण करने से पता चलता है कि पहले उन्होंने हठयोग को अपनाया। परन्तु हठयोग का जाल जब उनकी रचनाओं में पुरने लगा तो उन्हें अधिक समय नहीं लगा कि उन्होंने इसकी जटिलता का अनुभव किया और साथ ही उसका बहिष्कार भी। यहीं पर कबीर ने योग में प्रेम का समावेश किया। प्रेम-साधना को हठयोगी प्रवृत्तियों पर प्रधानता देकर कबीर ने प्रपत्ति का आश्रय ले प्रेम-योग का आधार ग्रहण किया और जन-हित की भावना से उसका सरल रूप जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया।

कबीर ज्यों-ज्यों प्रेम-साधना द्वारा अनिर्वचनीय में तादात्म्य की ओर अग्रसर हुए त्यों-त्यों उन्हें हठयोग के चक्रभेदन प्रक्रिया के प्रति उसके अनेकों आडम्बरों के कारण वितृष्णा भी हो गई। 'शब्द सुरति योग' का इसी स्थिति में कबीर ने प्रतिपादन किया है। अनहद शब्द के रूप में ब्रह्म-आस्था की कबीर ने अभिव्यक्ति की और लय योग का प्रतिपादन किया। कबीर इस स्थिति में आकर हठयोग से बिलकुल पृथक हो गये। इंगला-पिंगला से चल कर कबीर आसन और प्राणायाम से होते हुए त्रिकुटी में केन्द्रित ध्यान अर्थात् मंत्र-योग की स्थिति तक पहुँच गये। इसी स्थिति में कबीर ने अजपाजाप और सुमिरन को महत्व दिया जो कि सहज-योग के बहुत निकट है—

अजपा जपत सुनि अभि अन्तरियहु तत् जाने सोई।

—(कबीर की विचार-धारा—पृ० ३१८)

कबीर के योग की अन्तिम स्थिति सहज-योग की है जहाँ साधक को ब्रह्म-प्राप्ति के लिए विशेष प्रयत्नशील नहीं रहना होता। सहज योग में भी कबीरदास ने [illegible] की स्थापना की है। यह योग का सरलतम रूप है जिसकी स्थापना कबीर ने साधारण जनता के उपकारार्थ की है। इसके अन्तर्गत आपने मन-साधना और इन्द्रिय-निग्रह पर विशेष बल दिया है।

कबीर के इसी सहज-योग ने बाद में जाकर भक्ति-योग का स्वरूप धारण

किया जहाँ पहुँच कर योगकी अपेक्षा भक्ति की प्रधानता स्थापित होती चली गई। कबीर की योग-भावना इस तरह आद्योपान्त परिवर्तनशील रही है। जटिल-से-जटिल हठयोग से चलकर कवि सहज-योग और भक्ति-योग के स्वाभाविक सरल मार्ग पर पहुँच गया। हठयोग से, लय योग; लय योग से सहज योग और सहज योग से मंत्र-योग। यही मंत्र योग आगे चलकर सहज योग तथा फिर भक्ति योग के नाम से उच्चारित हुआ।

सहज योग में कबीर द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म को 'सहज शून्य' नाम से पुकारा गया है। मन का इसी सहज शून्य में लय होजाना परमानन्द की प्राप्ति है। यही लय होजाने की अवस्था उन्मनावस्था है और यही समाधि की भी अवस्था है। इसी अवस्था में पहुँच कर साधक को तीनों कालों का ज्ञान प्राप्त होता है।

कबीर की योग-भावना में यों सम्मिश्रण तो सभी योगों का कहीं-न-कहीं मिल जायगा परन्तु विचारों की परिपक्वता में जो धारा अबाध गति से बही है वह सहज योग की ही है। सहज योग का आपने निम्नलिखित स्वरूप निर्धारित किया है—

अवधू जोगी जग से न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सिंगी, नाद न षंडे धारा॥
बसे गगन में दुनी न देखे, चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसन नहिं छाँड़े, पीवे महारस मीठा॥
परगट कंथा माँहैं, जोगी, दिल मैं दरपन जोवे।
सहस इकीस छः से जारे त्रिकुटी संगम जागे॥
ब्रह्म अगनि में काया जारे त्रिकुटी संगम जागे।
कहै कबीर सोई जोगे स्वर, सहज सुनि त्यों लागे॥

—(क० ग्रं० पृ० १०६)

इन्द्रिय-निग्रह और मन-साधना ही सहजयोग है। मन-साधना पर कबीर ने विशेष रूप से बल दिया है। बाह्य जप-तप सहज योगी के लिए कोई महत्वपूर्ण वस्तु नहीं, व्यर्थ ही है। खपरा और सींगी धारण करना भी सहज योगी के लिए आवश्यक नहीं है। उसका तो एक मात्र लक्ष्य मन पर विजय प्राप्त करना मात्र ही रहता है और उसी के द्वारा वह लोभ, मोह, काम, क्रोध इत्यादि वासनाओं को अपने वश में करता है—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा।
रात दिवस न करई निद्रा॥
मन में आसन मन में रहना।
मन का जप तप मन सूँ कहना॥

मन में खपरा मन में सींगी।
अनहद नाद बजावे रंगी ॥
पंच परजारि भसम करि भूका।
कहै कबीर सो लहसै लंका ॥

—(क० ग्रं० पृ० १८२)

योग की अंतिम अवस्था 'पूरे सों परिचय' प्राप्त करके होती है और वही योगी की सिद्धावस्था है। इसी स्थिति में आत्मा की समस्त कामनाएँ शान्त हो जाती हैं और वह ब्रह्मानन्द में पूर्णरूपेण विलीन हो जाती है। ऐसी दशा में योगी को अपने तन की कुछ भी खबर नहीं रहती और यही उसकी मुक्तावस्था है। इस अवस्था में आत्मा ब्रह्म में विलीन हो जाती है और दोनों का पारस्परिक भेद-भाव मिट जाता है—

उलटि समाना आप में, प्रगटी जोति अनन्त।
साहेब सेवक एक सग, खेलें सदा बसंत ॥
जोगी हुआ झलक लगी, मिटि गया ऐंचा तान।
उलटि समाना आप मे, हुआ ब्रह्म सयान ॥

--(कबीर, हजारीप्रसाद—पृ० ३५४)

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
बूंद समानी समंद मे, सो कत हेरी जाई ॥
हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
समंद समाना बूंद मे, सो कत हेर्‍या जाइ ॥

२. कबीर ने माया को 'भान मात्र भ्रम' कहा है। [illegible] और शून्य-वाद की भी झलक कबीर के माया-तत्त्व में मिलती है।

३. परिवर्तनशील प्रकृति को भी कबीर ने माया ही के रूप में ग्रहण किया है।

४. परिवर्तन शीलता और मोहकता माया के प्रधान गुण हैं।

५. कबीर ने माया की स्त्री और ब्रह्म की पुरुष रूप में कल्पना की है।

६. कबीर का दर्शन पूर्ण रूप से अद्वैतवादी है—यों साधारण रूप से उन पर सभी प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तों की सामान्य मान्यताओं का प्रभाव है।

७. सृष्टि के विकास का कबीर ने कोई व्यवस्थित चित्रण प्रस्तुत नहीं किया परन्तु उनकी वाणी में यत्र-तत्र कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं।

८. कबीर ने सहज-भक्ति का प्रचार किया हैं जिसके अन्दर प्रपत्ति की भावना के अन्तर्गत होते हुए भी सख्य-भावना का लोप नहीं है—दास्य भावना का तो प्राधान्य है ही।

९. भक्ति के रूप और साधनों पर कबीर ने अच्छा प्रकाश डाला है और इनके साथ-ही-साथ भक्ति की स्थितियों को भी विस्तार के साथ चित्रित किया है।

१०. कबीर ने भक्ति के क्षेत्र में प्रधानता निर्गुण भक्ति को ही दी है।

११. कबीर की सहज भक्ति में प्रपत्तिपरता, भगवान् का ध्यान करना, दीनता से रहना यह सभी आवश्यक है।

१२. कबीर की भक्ति में हमें योग और साधना का भी सम्मिश्रण मिलता है।

१३. योग के क्षेत्र में भी कबीर ने सहज-योग या भक्ति-योग का ही प्रचार किया है। कबीर के प्रारम्भिक जीवन में हठ योग के लिए स्थान अवश्य रहा है परन्तु धीरे-धीरे कवि सहज-भावना की ओर ही पूर्ण रूप से झुक गया है।

अध्याय ८

कबीर की धार्मिक और सामाजिक विचार-धारा

धर्म तथा समाज के क्षेत्र में भी कबीर ने आध्यात्मिक क्षेत्र की ही भांति बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। कबीर के धर्म-सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डालने से पूर्व सांकेतिक रूप से यह समझ लेना आवश्यक होगा कि पुराने आचार्यों ने धर्म की क्या-क्या परिभाषाएँ की हैं। मनु और कणाद इत्यादि स्मृतिकारों ने "कुछ विशेष प्रकार के नैतिक नियमों के पालन तथा कुछ सामाजिक व्यवस्थाओं के अनुसरण" को धर्म माना है।

मीमांसकों ने धर्म की परिभाषा दूसरे ही प्रकार से की है। वह धर्म को प्रेरणा-प्रधान मानते हैं। धर्म को उन्होंने "विविध प्रवृत्तियों पर उचित अर्गला देने वाला तत्व" माना है।

महाभारत में व्यास जी ने "समाज की व्यवस्था करने वाले समस्त तत्वों को धर्म कहा है।"

कणाद ने धर्म की परिभाषा देते हुए कहा है—"धर्म लौकिक एवं पारलौकिक समृद्धि एवं शान्ति का विधान करने-वाली साधना-पद्धति है।"

उक्त चारों ही परिभाषाओं को डा० त्रिगुणायत ने अपूर्ण माना है, केवल अंतिम, कणाद की परिभाषा को आप कुछ युक्ति-संगत मानते हैं। आप लिखते हैं—"धर्म की सभी परिभाषाओं पर विचार करने पर हमें उनके दो स्थूल पक्ष दिखलाई देते हैं। उन्हें हम धर्म के साधारण और विशेष स्वरूप कह सकते हैं। उसका विशेष स्वरूप व्यक्ति, देश, और काल की सीमाओं से बँधा रहता है। यही कारण है कि विविध देशों के धर्मों में हमें परस्पर अनेक विभेद दिखलाई पड़ते हैं। धर्म का साधारण रूप देश, काल और व्यक्ति की सीमाओं के परे रहता है और प्रायः सभी देशों के धर्मों में समान रूप से परिव्याप्त है। इसमें मानव-मात्र के नैतिक नियमों की प्रतिष्ठा रहती है। धर्म का यह स्वरूप भी मानव-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। विश्व के धर्म-संस्थापकों ने प्रायः अपने धर्म में धर्म के दोनों पक्षों की प्रतिष्ठा की है। किन्तु धर्म-संस्थापकों के उठते ही धर्म के ठेकेदार धर्म के विशेष स्वरूप को लेकर धर्म का अनर्थ करते रहे हैं। यही कारण है कि किसी भी धर्म का

स्वरूप विकृत हुए बिना नहीं रहा। किन्तु यह विकृत स्वरूप चिरस्थाई कभी नहीं रहता। समय के प्रवाह में सदा उसकी प्रतिक्रिया अवश्य होती है। धर्मों का इतिहास वास्तव में इसी क्रिया और प्रतिक्रिया का इतिहास है। जब-जब समाज में धर्म के विशेष रूप को अधिक महत्व देकर उसे विकृत किया गया तब-तब धर्म के साधारण स्वरूप की पुनर्प्रतिष्ठा की गई है।"

उक्त कथन की सत्यता का प्रमाण भारतीय और विश्व के सभी धर्मों के इतिहास हैं। ब्राह्मण धर्म में जब धर्म के साधारण स्वरूप की अवहेलना कर विशेष रूप को महत्व दिया गया—तभी बौद्ध और जैन धर्म का आविर्भाव हुआ। इसी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ विभिन्न धर्मों में विभिन्न कालों के अन्दर पाई जाती हैं। साथ ही एक एक धर्म की भिन्न भिन्न शाखाओं के बन जाने का कारण भी प्रचारकों, विचारकों और ठेकेदारों के पारस्परिक मतभेद ही हैं, जो कि धर्म के साधारण और विशेष स्वरूपों के आधार पर बनते और बिगड़ते रहते हैं।

जहाँ तक साधारण नियमों का सम्बन्ध है वह तो विश्व के सभी धर्मों में लगभग समान रूप से विद्यमान है। ऊपर की दृष्टि से देखने पर विश्व के प्रख्यात धर्म जो एक दूसरे के विरोधी से प्रतीत होते हैं उनके भी यदि साधारण नियमों का निरीक्षण किया जाय तो उनमें बहुत बड़ा साम्य मिलता है। भेद केवल उनके विशेष रूप में ही होता है।

कबीर के जीवन-काल में भारत को हिन्दू और इस्लाम धर्म के ठेकेदारों ने भोली भाली जनता में पाखण्डी प्रचार और अंधविश्वास तथा धर्म के बाह्याडम्बरों के जाल फैलाने का गढ़ बनाया हुआ था। धर्म के इसी विकृत स्वरूप के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में कबीर की धार्मिक विचार-धारा ने जन्म लिया। कर्मकाण्डी धर्म-व्यवस्था की कुरीतियों के प्रति कबीर की विचार-धारा में विद्रोह की भावना का प्राधान्य हुआ और उन्होंने हिन्दू तथा इस्लामी धार्मिक कुव्यवस्थाओं का मुक्त कण्ठ से खंडन किया। कबीर ने जिस धार्मिक विचार-धारा का प्रसार किया उसे 'सहज धर्म' कहा गया, अर्थात् जिसमें किसी भी कठिन धार्मिक व्यवस्था में आस्था स्थापित नहीं की गई। 'निज धर्म' और 'मानव-धर्म' भी इसे कहा जा सकता है। इस धर्म में किसी भी रूढ़िवादी विचार-धारा को बिना विचारे पालन करने की प्रथा का अनुमोदन कबीर ने नहीं किया।

गत अध्याय में हम कबीर के सहज योग पर विचार करते हुए यह देख चुके हैं कि कबीर की विचार-धारा के प्रारम्भ में चाहे रूढ़ि के लिए कोई स्थान रहा भी हो परन्तु विचारों की परिपक्वता आने पर तो कबीर ने विचार, भावना और मान्यताओं के क्षेत्र में सहज विचार-धारा को ही पूर्ण रूप से प्राधान्य दिया है। दादू नानक, इत्यादि अन्य संतों ने भी इसी सहज प्रथा का आश्रय लिया है

और कबीरदास जी के दिखलाए हुए पथ का अनुसरण किया है। संतों के सहज धर्म की व्याख्या करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने लिखा है—"प्रतिदिन के जीवन के साथ चरम साधना का कोई विरोध नहीं होना चाहिए। आज की वैज्ञानिक भाषा में अगर कहना हो तो इस प्रकार कह सकते हैं; पृथ्वी जिस प्रकार अपने केन्द्र के चारों ओर घूमती हुई अपनी दैनिक गति सम्पन्न करती है और यही गति उसे सूर्य के चारों ओर बृहत्तर वार्षिक गति के मार्ग में अग्रसर कर देती है उसी प्रकार साधना भी जीवन को सहज ही अग्रसर करती है।

दैनिक गति से सूर्य की शाश्वत गति का जो योग है, उसी को संत सहज पंथ कहते हैं। नदी के भीतर दोनों जीवन का पूर्ण सामंजस्य है। नदी प्रतिपल अपने दोनों किनारों पर अगणित कार्य करती चलती है और साथ-साथ अपने को असीम समुद्र में प्रवाहित भी कर रही है। उसका दण्ड-पथ-गत जीवन उसके शाश्वत जीवन के साथ सहज योग से युक्त है। इसमें-से एक को छोड़ने से दूसरा निराश हो जाता है। संसार और गृहस्थ जीवन को छोड़कर साधना नहीं हो सकती। साधना में नित्य और दैनिक लक्ष्य का कोई विरोध नहीं।

कबीर ने इस सत्य को खूब समझा था। यही कारण है कि वे संन्यासियों के शिरोमणि होकर गृहस्थ थे। कबीर की वाणी में सहज धर्म के सम्बन्ध में अनेक बातें भरी पड़ी हैं।"

—(कबीर की विचारधारा–पृ० ३५६)

कबीर ने आजीवन एक जिज्ञासु के रूप में अध्यात्म का अध्ययन किया। उनकी जिज्ञासा का आधार अनुभूति था। कबीर की अनुभूति की कसौटी पर जो सहज और सरल आध्यात्मिक तत्व आये उन्हीं की मान्यता कबीर द्वारा स्थापित हुई। इस प्रकार कबीर ने सत्य की खोज में अपना समस्त जीवन लगाया। दर्शन भी अपने शुष्क रूप में कबीर को कभी मान्य नहीं रहा। तर्क द्वारा अपने मत की पुष्टि कबीर ने कहीं पर भी नहीं की—इस विषय में हम पिछले अध्याय में भी संकेत कर चुके हैं। कबीर का यह दर्शन पूर्ण रूप से अद्वैतवादी है।

कबीर पूर्ण रूप से आस्तिक हैं और उनकी जिस सहज-तत्व में आस्था है वह न पूर्ण रूप से हिन्दुओं का भगवान ही है और न मुसलमानों का खुदा ही। योगियों का शून्य भी वह नहीं है। वह तो घट-घट में निवास करने वाला सहज राम है। कबीर ने अपनी साधना को केवल 'सहज' के ही चारों ओर केन्द्रित किया है। आत्मा इसी सहज में विलीन हो जाती है, कहीं जाने-आने का प्रश्न ही नहीं रहता। मोक्ष इत्यादि के विषय में भी इस प्रकार यह प्रश्न स्पष्ट हो जाता है।

कबीर का सहज धर्म अनुभूति के साथ-ही-साथ बुद्धि तत्व को भी लेकर चलता है। कबीर ने तर्क मिश्रित बुद्धि को न अपना कर अनुभूति मिश्रित बुद्धि को

अपनाया। कबीर के सहज धर्म में हमें कहीं भी भावना-प्रधान बाह्याडम्बर या रूढ़िवाद पनपता हुआ नहीं मिलता। कबीर ने हिन्दू और मुसलमान, दोनों धर्मों की भूलों पर समान रूप से कटाक्ष किया है और धर्म के नाम पर भोली जनता में भ्रम पैदा करने वालों के तो कबीर कट्टर शत्रु रहे हैं। कबीर ने काफी कड़े शब्दों में उनकी आलोचना की है और साथ ही सहज धर्म का प्रचार भी।[1]

कबीर की खण्डनात्मक प्रवृत्ति के अन्दर हमें जड़ता लेश मात्र को भी नहीं मिलती। स्थान के आधार पर किसी वस्तु का पवित्र या अपवित्र होना कबीरदास नहीं मानते, साथ ही कोई छोटा काम करने से भी कोई व्यक्ति छोटा नहीं होता। मंदिर का पुजारी ही श्रेष्ठ पुरुष नहीं है, सड़क पर झाड़ू लगाने वाला मेहतर भी पुण्यात्मा हो सकता है। स्थान, काम और वेश के आधार पर व्यक्ति की परख करना कबीर को मान्य नहीं था। इसी आशय पर ग़ालिब ने लिखा है—

ग़ालिब शराब पीने दे मसजिद में बैठ कर
या वह जगह बता दे जहाँ पर खुदा न हो।

अहंकार मूलक कर्मकाण्डियों से कबीर को घृणा थी। अपने सहज धर्म को कबीर ने व्यर्थ के कर्मकाण्ड के चक्कर में फँसा कर उसके मानने वालों का

---

१. (१) साधो पाँड़े निपुन कसाई।
बकरी मारि भेड़ि को धाये, दिल में दरद न आई।
करि अस्नान तिलक दै बैठे, विधि सों देवि पुजाई।
आतम मारि पलक में बिनसे, रुधिर की नदी बहाई।
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा माहिं अधिकाई।
इनसे दिच्छा सब कोई माँगे, हँसि आवै मोहिं भाई।
पाप-कटन को कथा सुनावैं, करम करावै नीचा।
बूड़त दोउ परस्पर दीखे, गहे बाँहि जम खींचा।
गाय बधै सो तुरक कहावै, यह क्या इनसे छोटे।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, कलि में बाम्हन खोटे।
—(कबीर हजारीप्रसाद—पद १२१)

(२) मुरसिद ! नैनों बीच नबी है।

(३) बेद-कतेब इफ़तरा भाई दिल का मरम न जाई।
टुक दम करारी जो करहु हाजिर हजूर खुदाई॥
बन्दे खोज दिल हर रोज ना फिर परेसानी माहिं।
इह जु दुनियां हहरु मेला दस्तगीरी नाहिं।
....

व्यर्थ समय नष्ट करना उचित नहीं समझा। स्वर्ग नर्क कोई पृथक स्थान हैं जहाँ आत्मा को कर्मों के अनुसार जाना होता है इसमें भी उनका अविश्वास था। 'अहोई' इत्यादि का व्रत करने वाली स्त्री को उन्होंने 'गदही' तक कह दिया है। अंधविश्वास के साथ तीरथ, व्रत इत्यादि कर्मकाण्डों में लीन रहने वालों की तो कबीर दास ने गति ही नहीं मानी। कबीर ने अपने सहज धर्म में आचरण-प्रवणता, शुद्धता, हृदय की सरलता और निष्कपटता, सत्य बोला और मानव मात्र में बिना काम, स्थान और पद के प्रेम-भाव बनाये रखने को ही धर्म के प्रधान लक्षण-स्वरूप ग्रहण किया है।

"काम, क्रोध, तृष्णा तजै, ताहिं मिलै भगवान्।"

—(क० ग्रं० पृ० १)

हृदय और मन की शुद्धता तथा निष्कपटता पर कबीर का सहज धर्म आधारित है जिसके लिए न तो बड़े-बड़े वेद-कुरान, इंजील और बाइबिल के पोथे पढ़ने की आवश्यकता है और न मन्दिर, मस्जिद या गिर्जे में जाकर भजन, पूजन, नमाज इत्यादि में समय नष्ट करने की। सच्चे मन से भगवान् का भजन कर उसमें आस्था के साथ रत हो जाना ही जीवन की वास्तविक शान्ति है और यही शान्ति प्राप्त करना सहज धर्म का प्रधान लक्ष्य है। मन शुद्ध और हृदय निष्कपट होने पर व्यक्ति के आचरण कभी भी असात्विक और धर्म-विरुद्ध नहीं हो सकते। इसी लिए कबीर ने पहले मन की शुद्धता और हृदय की निष्कपटता पर बल दिया है। कबीर का सहज धर्म मन की शुद्धता पर ही अवलम्बित है, यदि कह दिया जाय तो कुछ अनुचित न होगा। सहज ज्ञान के लिए शुद्ध मन होना नितान्त आवश्यक है। शुद्ध मन और निष्कपट हृदय के साथ यदि विचारों में सात्विकता आजाय तो सोने में सुहागा मिल जाता है। सच्चे और पवित्र मन से विचारों में सात्विकता धारण करने से ही भगवान् से आत्मा का सहज योग होता है। बीच का भेद भाव और कालिमा विलुप्त हो जाती हैं। धर्म की शुद्धता विचारों की शुद्धता पर ही अवलम्बित है।

आचार और विचार

विचारों की शुद्धता पर ऊपर हमने प्रकाश डाला और बतलाया कि कबीर ने उनपर विशेषरूप से बल दिया है। विश्व के सभी धर्मों में जिस क्षेत्र के अन्दर मतभेद पाया जाता है वह है आचारों-सम्बन्धी सूची। इस सूची का विस्तार ही वास्तव में विस्फोट का कारण बनती है। कबीर ने इस प्रकार की कोई सूची अपने सहज धर्म के लिए तय्यार नहीं की। आचारों का विस्तृत विधि-निषेध हमें सहज-धर्म का नहीं मिलता। कबीर ने धर्म के बाह्य स्वरूप को विशेष

मान्यता न देकर उसके मानसिक और नैतिक स्वरूप को ही मान्यता प्रदान की है। वास्तव में वह धर्म के उस बाह्य स्वरूप से घृणा करते थे जिसके अन्दर वास्तविकता की अपेक्षा पोल के लिए अधिक स्थान हो। कबीर ने विचार पर विशेष बल दिया है।[1]

विश्व-धर्म से अर्थात् धर्म के साधारण रूप से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी आचरणों की मान्यता हमें कबीर के सहज धर्म में मिलती है। कबीर एक सच्चे मानव धर्मावलम्बी थे जिन्होंने विश्व-धर्म को नैतिक आदर्शों की ही आधार-शिला पर स्थापित करने का प्रयास किया है। दया, क्षमा, दान, धैर्य, संतोष, त्याग परोपकार, अहिंसा, शील इत्यादि मानव के ऐसे गुण हैं कि जिनका समर्थन समान रूप से सभी धर्मों के धर्म-ग्रन्थों में उपलब्ध हो जायगा। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, कपट, कायरता, निर्दयता, तृष्णा, इत्यादि कुवृत्तियों का भी खण्डन विश्व के सभी धर्मों ने किया है। विश्व के सब धर्मों की इन मान्यताओं को कबीर ने अपने सहज धर्म में ज्यों-का-त्यों ही नहीं अपना लिया वरन् इनपर विशेष रूप से बल दिया है और इन विचार-प्रधान नैतिक तत्वों के प्रसार के लिए अपनी वाणी में उपदेश किया है। आचरण पर जोर देने के साथ-ही-कबीर ने मद्य और माँस का भी निषेध किया है। कर्म के साथ कबीर ने सदाचार पर विशेष बल दिया है।

मध्य-मार्ग

महात्मा कबीर के सहज धर्म में हमें मध्य मार्ग के अनुसरण की छाप दिखलाई देती है। कबीर पर यह प्रभाव सम्भवतः बौद्धों से आया प्रतीत होता है। बौद्धों ने मध्य-मार्ग को विशेष रूप से अपनाया है। मध्य-मार्ग की छाया हमें कबीर के सहज धर्म के "रहनी" स्वरूप में मिलती है। मध्य-मार्ग ग्रहण करके कबीर ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों की बुरी बातों का खंडन करते हुए भी दोनों का ही समर्थन प्राप्त किया है और दोनों के विरोध से अपने को बचाया है। मध्य मार्ग में व्यर्थ का द्वन्द नहीं चलता। इससे अपने विचारों के प्रकाशनमें कबीर को सहायता तथा सहयोग मिला। मध्य मार्ग के विषय में कबीर ने कई पद कहे हैं।[2]

---

१. कबीर सोच विचारिया, दूजा कोई नांहि।
आपा पर जब चीन्हियां, तब उलटि समाना मांहि॥
—(कबीर-वचनामृत, साखी-भाग—पृ० १६०)

कबीर मधि अंग जेको रहै, तो तिरत न लागै बार।
दुहु दुहु अंग सूं लागि करि, डूबत है संसार॥
—(कबीर-वचनामृत—पृ० १५५)

सहज-साधना

कबीर ने अपने सहज-धर्म की साधना भी सहज ही रखी है। विश्व के सभी धर्मों के साधना-मार्ग पृथक-पृथक हैं। कबीर ने सहज धर्म में उपादान स्वरूप सहज योग, सहज वैराग्य, सहज ज्ञान और सहज भक्ति को मान्यता प्रदान की है। कबीर की प्रत्येक धार्मिक विचार-धारा के साथ 'सहज' का प्रयोग मिलता है। वेश-भूषा बदलने का नाम कबीर ने वैराग्य नहीं माना।[1] कबीर कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति तन के स्थान पर मन से वैरागी हो जाता है तो उसे सहज ही सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं—

तन कौं जोगी सब करैं, मन का बिरला कोई।
सब सिधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होई।

मूंड मुँडाना इत्यादि सब वृथा है यदि मन में धार्मिक वृत्तियों का उदय नहीं हुआ और मन को अन्य कामों से मुक्ति नहीं मिली है।[2]

समरसता

कबीर ने अपने सहज धर्म में समरसता को स्थापित किया है। मानव जीवन में साम्यता स्थापित करने का तो मानो कबीर ने बीड़ा ही उठाया था। कबीर जीवन को धर्म और धर्म को साधना तथा नैतिकता से समरसता के ही आधार पर सम्बद्ध करके चले हैं। आप तो मानव मात्र को एक धर्म, एक समाज और एक ही नैतिक बन्धन में बाँध कर बाह्याडम्बरों की जटिल परम्पराओं से मुक्त कर देना चाहते थे। मानव जीवन की अनेकों विषमताओं को जड़मूल से उखाड़ कर उनके स्थान पर समतल स्थापित कर देने का आपने प्रयत्न किया। कबीर ने साधना के क्षेत्र में धर्म और कथन दोनों को समान रूप से ग्रहण किया है। इनके सहज धर्म में अनुराग तथा विराग आपस में गठबन्धन करके चलते हैं। यह समरसता ही कबीर के जीवन और धार्मिक सिद्धान्तों की वह उच्च शिखा है कि जिसकी ओर विचारक तथा भक्त सभी एकसी श्रद्धा के साथ लौ लगाकर एक भावना, एक कल्पना और एक विचार के साथ देखते हैं।

---

1. बनह बसे का कीजिये
   जो मन नहिं तजे विकार।
2. (१) केसौं कहा बिगाड़िया, जे मूड़ैं सौ बार।
   मन कौं काहे न मूड़िए, जामैं विषै विकार।
   (२) मूँड़ मुड़ावत दिन गए, अजहुँ न मिलिया राम।
   राम नाम कहु क्या करैं, जे मन के और काम॥

वैराग्य और कर्मयोग

कबीर ने अपने सहज धर्म में [illegible] और कर्म योग दोनों का समन्वय बहुत ही ज्ञानात्मकता के साथ किया है, जहाँ पर हम समरसता की पराकाष्ठा पाते हैं। कवि ने विरोधी भावों को एक धारा में बहा कर उन्हें उसी प्रकार आपस में विलीन कर दिया है जिस प्रकार उनकी उलटबासियों में आत्मा और परमात्मा का मिलन दिखलाया गया है। सहजमार्गी जन जीवन के सभी कार्यों में अपना कर्त्तव्य निभाता हुआ धीरे-धीरे वैराग्य की ओर अग्रसर होकर भगवान् में विलीन हो जाता है। यों सहज धर्म की भावना में सीधे रूप से समाज को कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया परन्तु मान्यता उनके निकट व्यक्ति की अपेक्षा समाज की ही अधिक रही है।

—(क० ग्रं० पृ० २६२)

ज्ञान, कल्पना और अनुभूति

कबीर ने 'जहाँ ज्ञान तहँ धर्म' कहकर यह स्पष्ट कर दिया कि बिना ज्ञान के धर्म भी सम्भव नहीं। ज्ञान के बिना कबीरदासजी जीवन को वृथा मानते हैं—

"बावरे ते ज्ञान विचारै न पाया। बिरथा जनम गँवाया॥

—(क० ग्रं० पृ० २६५)

धर्म के मार्ग में आने वाली आपत्तियों या बाधाओं को नष्ट करने की शक्ति केवल ज्ञान में ही है। कबीर ने ज्ञान, अनुभूति और कल्पना तीनों का ही आश्रय लिया है परन्तु प्रधानता ज्ञान को ही दी गई है क्योंकि ज्ञान से अनुभूति और कल्पना दोनों सम्भव हैं।

"कबीर का ज्ञान ब्रह्मलीन, अनुभूति सौंदर्यलीन और कल्पना रहस्यलीन है। उनका ज्ञान तत्व या अद्वैत को लेकर, अनुभूति चिर सुन्दर या द्वैत को लेकर और कल्पना भौतिक शरीर को लेकर चली है। ज्ञान में कबीर परमहंस हैं, कल्पना में योगी और अनुभूति में प्रिय के प्रेम की भिखारिणी पतिव्रता रानी। कबीर के ज्ञान का अंश ब्रह्म दर्शन है। कल्पना के लिए वह सिद्धों या नाथों के कृतज्ञ हैं और अनुभूति? वैष्णवों की माधुर्य भावना, भक्ति मार्ग की प्रेम पीर और अभिव्यंजना की तूलिका से गहरा रंग पाकर कबीर की अनुभूति अनोखी बन बैठी। कबीर का ज्ञान लोकातीत है परन्तु अनुभूति लोकातीत और लौकिक दोनों है। ज्ञानावस्था में कबीर सिद्ध और साधक दोनों हैं। योगावस्था में उनकी शारीरिक साधना है और प्रेमावस्था में मानसिक साधना।"

—(कबीर-वचनामृत–पृ० १३८)

इस प्रकार कबीर के सहज धर्म में हम त्रिगुण समन्वय की भावना की

स्मरण, नाम, अजपाजप और प्रपत्ति

ज्ञान द्वारा कबीर ने अपने भक्ति-मार्ग में ईश्वर-प्राप्ति के कठिन मार्गों का त्याग और सहज साधना के ग्रहण की ओर ही निरन्तर ध्यान दिया है। जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं हठयोग के कठिन आसनों इत्यादि की ओर से कबीरदास बहुत शीघ्र उदासीन हो चुके थे और फिर उन्होंने सहजाभक्ति के अनुकूल साधनों को ही अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। भक्ति में स्मरण, नाम, अजपाजप और प्रपत्ति आदि को ही प्रधानता दी गई है। कबीर कीर्तन के विशेष प्रेमी थे। 'सुमिरन' को कबीर ने भगवान्-भक्ति का सार माना है। यही स्मरण समय पाकर जप और अजपाजप तथा प्रपत्ति में बदल जाता है और यही भगवान् की सहज भक्ति का चरम लक्ष्य बन जाता है। प्रपत्ति का अर्थ है शरणागति। भारतीय भक्ति-मार्ग में प्रपत्ति का विशिष्ट स्थान है। प्रपत्ति के महत्व का गुणगान भगवद्गीता में भी मिलता है। बाद में आकर भागवत पुराण में भी इसकी और भी विस्तार के साथ व्याख्या मिलती है और इसके महत्व को बल दिया गया है। मुसलमानों के 'इस्लाम' शब्द का अर्थ भी प्रपत्ति ही है। डा० भंडारकर का मत है कि प्रपत्ति की भावना का हिन्दू की भक्ति में आगमन मुसलमानी सम्पर्क से प्रतीत होता है, गलत ही है क्योंकि गीता की रचना मुसलमानों के भारत में आने से बहुत पूर्व हो चुकी थी। डा० त्रिगुणायत ने भी अपने कबीर की विचार-धारा ग्रंथ में पृ० ३६५ पर डा० भंडारकर के इस मत का खंडन ही किया है और कबीर के प्रपत्ति सम्बन्धी विचार को भारतीय परम्परा से ही सम्बद्ध किया है।

कबीरदास ने अपने भक्तों को भगवान् की शरण में जाने का मुक्त कंठ से उपदेश दिया है और वह शरण में जाना स्मरण, नाम-जप, अजपाजप और प्रपत्ति में ही सम्भव माना है।[1]

---

१. सुमरन—

(१) कबीर सुमिरण सार है और सकल जंजाल।
आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखौं काल॥
(२) भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुःख अपार।
मनसा वाचा करमना, कबीर सुमिरन सार॥
(३) मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि॥

—(कबीर वचनामृत—पृ० १२-१३).

समाज और कबीर

पुस्तक के प्रथम अध्याय में हम कबीर-कालीन सामाजिक दशा पर विचार कर चुके हैं। यहाँ हम कबीर की समाज-सम्बन्धी विचार-धारा पर संक्षेप में विचार करेंगे। समाज व्यक्ति का ही विकसित रूप है। जब व्यक्ति इकाई के रूप में विचार न करके सामूहिक विचार-धारा के आधीन मानता है तो उसका दृष्टिकोण समाजवादी कहा जाता है। सामूहिक दृष्टिकोण में व्यक्ति का हित तो सम्मिलित रहता ही है परन्तु स्वार्थ प्रिय व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में समाज का अहित होने की सम्भावना रहती है। समाज क्योंकि व्यक्तियों का ही सामूहिक स्वरूप है इसलिए जब भी व्यक्ति कर्त्तव्य-च्युत होता है तो उसका प्रभाव समाज पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। समाज विशृंखल होकर गिरावट की ओर चलने लगता है। व्यक्ति में किसी भी प्रकार का दोष समाज की गिरावट का कारण बनता है। व्यक्ति का आत्मिक पतन, व्यक्ति का नैतिक पतन, व्यक्ति का मानसिक पतन, व्यक्ति का बौद्धिक पतन, व्यक्ति का शारीरिक पतन, व्यक्ति का आर्थिक पतन--यह सभी उसके समाज में प्रतिबिम्बित हो उठते हैं। व्यक्ति की यह प्रवृतियाँ स्वार्थ से प्रेरित होकर समाज में विष के सामान फैल जाती हैं। समाज के इस विष को दूर करने के लिए महापुरुषों ने जन्म लिया है और समाज के विशृंखल ढांचे को फिर से श्रृंखलाबद्ध करने के निमित्त अपना जीवन लगाया है। महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, कबीर, स्वामी दयानन्द, राजा राममोहन राय, महात्मा गांधी इत्यादि के नाम इस दिशा में उल्लेखनीय हैं कि जिन्होंने समाज में प्रचलित कुरीतियों का खण्डन कर नवीन प्रवृत्तियों को जन्म दिया और प्राचीन पाखण्डी मान्यताओं के प्रति विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया को प्रश्रय दिया।

समाजवादी भावना का लोप--इस काल में भारत के सामाजिक वातावरण में समाजवादी भावना का लोप हो चुका था। एक विशाल समाज खण्ड-खण्ड होकर पहिले ही समूहों में विभाजित हो चुका था और यह समूह भी आज आर्य-काल की वर्ण-व्यवस्था के आधीन कार्य नहीं कर रहे थे। इनके मूल में कर्म की अपेक्षा जन्म को प्रधानता दी जाने लगी थी और फिर भाग्य की परिपाटी ने तो मानव-समाज का जो अहित किया वह कुछ कहने की बात ही नहीं। भाग्य का सहारा लेकर पाखण्डी धर्म और समाज के ठेकेदारों को अपनी पाखण्डी विचार-धारा भोली-भाली जनता में फैलाने के अन्दर सहारा मिला और उन्होंने अपनी स्वार्थप्रिय प्रवृत्तियों के आधार पर व्यक्तिवादी परम्परा को प्रश्रय दिया। राजनीति के क्षेत्र में भी यह एकतंत्रवादी राज्यसत्ताओं का युग था जिसमें व्यक्तिवादी विचार धारा का ही प्राधान्य रहा। राजा या बादशाह और फिर सामन्त तथा उनके

पर नारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जांहि

—(कबीर-वचनामृत—पृ० ११४)

× × ×

पर नारी के राचणौं, औगुण हैं, गुण नांहि।
पार समंद में मंछला, केता बहि-बहि जांहि ॥

सत्य भाषण के लिए कबीरदास जी लिखते हैं—

यह सब झूठी बन्दिगी, बरियाँ पंच निवाज।
सांचै मारे झूठ पढ़ि काजी करै अकाज ॥

--(कबीर-वचनामृत—पृ० १२४)

भेष बदलने पर कबीर के विचार देखिए—

नव सत साजे कांमिनी, तन मन रही सजाई।
पीव के मनि भावे नहीं, पट्रम कीए का होई ॥

—(कबीर-वचनामृत—१३६)

कुसंगति के लिए कबीरदास जी इस प्रकार कहते हैं—

मारी मरूं कुसंग की, केला काठे बेरि।
वो हालै वो चीरिये, सापित संग निबेरी ॥

—(कबीर-वचनामृत— १३८)

दूसरों के दोषों को देखकर हँसने वाले के प्रति कबीर कहते हैं—

दोष पराये देखकर, चल्या हसंत हसंत।
अपनैं च्यंति न आवइ, जिनकी आनि न अन्त ॥

इस प्रकार हमने देखा कि आचरण की सभ्यता व्यक्ति में स्थापित करने के लिए कबीर ने व्यक्ति के नैतिक उत्कर्ष की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया है। वास्तव में चरित्र का उत्थान ही व्यक्ति का उत्थान है और व्यक्ति का उत्थान ही समाज का उत्थान है। इसी विचार-धारा के अंतर्गत कबीर ने चरित्र पर विशेष रूप से बल दिया है और सामाजिक असंगठन की प्रधान बेड़ियों को अपने उपदेशों और महान व्यक्तित्व से तोड़ने का प्रयास किया है।

इस काल में धर्म के वास्तविक और साधारण तथ्यों का समाज से लोप हो चुका था और लकीर के फकीरों ने अपने को ब्रह्मज्ञानी मानकर एक अन्धकार पूर्ण वातावरण देश में फैला दिया था। कबीर ने धर्म के वास्तविक स्वरूप की वह रूपरेखा समाज के सामने प्रस्तुत की कि जिसके आँचल में सभी धर्मों की साधारण मान्यताएँ विश्राम ग्रहण कर सकती थीं। कबीर ने समाज में स्व-कर्त्तव्य की भावना भरने का प्रयास किया। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति से है और व्यक्ति का सम्बन्ध समाज

से। इस लिए यदि व्यक्ति धार्मिक मान्यताओं से शून्य हो जाता है तो वह उसके आधार से आध्यात्म मानव-धर्म के उन व्यापक नियमों को भी अंगीकार नहीं करता कि जिसके आधार पर उसका चरित्र खड़ा होता है। वह स्वयं गिरने लगता है। कबीर ने धर्म और व्यक्ति के इस स्वरूप का पूर्ण अध्ययन किया और उसके प्रभाव को समाज पर गिरता देख [illegible] व्यक्ति तथा समाज के सुधार में भरपूर सहयोग प्रदान किया।

कबीर ने हिन्दुओं के पाखण्ड और मुसलमानों के पाखण्ड की समान रूप से आलोचना करके समाज के रोग का उपचार प्रस्तुत किया है। वह तो कहते हैं—

> [illegible] चढ़ी चंद्री [illegible] पंच निवाज।
> साँचे मारे झूठ पढ़ि काजी करै अकाज॥
>
> × × × ×
>
> काजी कौन कतेब बखानै।
> पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहिं जानै॥
>
> —(क० ग्रं० पृ० ४२)

संक्षिप्त

१. धर्म के क्षेत्र में कबीर ने एक जिज्ञासु बनकर जीवनभर कार्य किया है और समस्त जीवन के प्रयासों के पश्चात् जिस निर्णय पर वह पहुँचे हैं वह 'सहज'-भावना है।

२. कबीर की यही 'सहज' भावना मानव-धर्म का मूल मंत्र है। इसमें सभी धर्मों की समान्य-मान्यताओं का एकीकरण हो जाता है और विश्व-बंधुत्व की भावना को प्रश्रय मिलता है।

३. कबीर ने अपनी 'सहज' भावना को मध्य-मार्ग के अंतर्गत प्रवाहित करने का प्रयास किया है, भलाई के साथ बुराई को बुराई और भलाई को भलाई माना है। कबीर का "रहनी" स्वरूप इसी मध्य-मार्ग का द्योतक है।

४. मान्यता के अतिरिक्त साधना के क्षेत्र में भी कबीर ने 'सहज'-प्रवृत्ति को ही अपनाया है। कठिन कर्मकाण्ड और योग इत्यादि की ओर से कबीर का मन बराबर उदासीन ही होता चला गया है।

५. कबीर के सहज-धर्म में समरसता की भावना प्रधान रूप से मिलती है। मानव-जीवन की साम्यता का मूल मंत्र लेकर कबीर ने अपनी धार्मिक विचार-धारा का मार्ग प्रशस्त किया है।

६. कबीर के सहज-धर्म में वैराग्य और कर्म-योग का कलात्मक सौंदर्य

मिलता है। यह समन्वय कबीर का बुद्धिवादी दृष्टिकोण ही कर सकता था, अन्यथा दोनों ही एक दूसरे के बिलकुल विपरीत भावनाएँ हैं—आग और पानी का मेल है।

७. कबीर ने अपनी वाणी में ज्ञान, कल्पना और अनुभूति का आश्रय लेकर 'सहज' धर्म का प्रतिपादन किया है। कबीर के 'सहज' धर्म में त्रिगुण समन्वय की भावना विद्यमान है।

८. कबीर ने धर्म के क्षेत्र में ज्ञान, भावना और कर्म तीनों का समन्वय किया है। साधना के क्षेत्र में स्मरण, नाम, अजपाजप और अन्त में प्रपति द्वारा ब्रह्म से तादात्म्य होने का मार्ग 'सहज' प्रवाह के साथ कबीर ने सुझाया है।

९. ब्रह्म को घट-घट वासी कह कर उसकी भक्ति भी मन-ही-मन करने का कबीर ने निर्देश किया है। कर्म-काण्ड से बाह्याचारों का कबीर ने कहीं पर भी समर्थन नहीं किया, बल्कि खण्डन ही किया है।

१०. इस काल का समाज बहुत ही गिरी दशा में था। समाजवादी भावना का लोप और व्यक्तिवादी भावना का प्राधान्य मिलता था। कबीर ने समाज को जन-हित की प्रेरणा दी।

११. व्यक्ति को सदाचार का पाठ पढ़ाकर समाज की गिरती हुई दीवारों को फिर से नया जीवन प्रदान किया और सम-भावना का गुरु-मंत्र जनता में फूँक कर समाज को बल दिया।

१२. समाज के क्षेत्र में कबीर ने हिन्दू तथा मुसलमान, सभी को एक स्तर पर रखकर परखा है और एक ही स्तर पर सहयोग के साथ जीवन-संचालन करने का पाठ पढ़ाया है।

१३. कबीर ने मध्य-युग के भारतीय मानव को आचरण की सभ्यता के स्रोत में प्रवाहित किया है।

१४. कबीर ने मध्य युग के मानवीय समाज और धर्म का इस प्रकार हर क्षेत्र में मार्ग निर्देशन किया और मानव-धर्म की एक नवीन रूपरेखा जनता को प्रदान की।

अध्याय ६

कबीर का मूल्यांकन

एक विचारक के नाते

कबीर ने जिस युग में जन्म लिया था उस युग की धार्मिक प्रवृत्तियों, मान्यताओं, सामाजिक व्यवस्था तथा सम्पूर्ण विशृंखलताओं पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। विश्व में [illegible] जितने भी विचारक हुए हैं उनकी जीवनियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनकी विचारधारा ने अपने इर्द-गिर्द की समस्याओं से ही प्रभावित होकर विश्व के सम्मुख अपने विचारों का रूप रेखा प्रस्तुत की। कबीर की विचार-धारा पर भी कबीर-कालीन परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है।

हर देश में हर काल के अन्दर तीन प्रकार के विचारक पाये जाते हैं। एक विचारक-वर्ग वह होता है जो रूढ़िवादी ढंग का होता है और प्रत्येक नवीनता पर प्राचीनता को तरजीह देता है। दूसरा विचारक-वर्ग वह होता है जो मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करता है और प्राचीन तथा नवीन में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। प्राचीन का खण्डन भी यदि वह करता है तो दबी ज़बान से और नवीन का समर्थन भी यदि वह करता है तो वह भी चलती भाषा में नहीं। वह समाज की मान्यताओं को मानकर चलता है, उनसे विद्रोह करके आगे नहीं बढ़ता। तीसरा विचारक-वर्ग एकदम क्रान्तिकारी होता है जिसके विचारों में प्राचीन रूढ़ियों के लिए किंचित मात्र भी मोह नहीं होता और वह अपना हर प्रकार से नया ही मार्ग ग्रहण करना चाहता है।

कबीरदास जी मध्ययुग के विचारक हैं। इस काल के रूढ़िवादी विचारक शास्त्रीय विधि-विधान और वर्णाश्रम धर्म में आस्था रखते थे। वह श्रुति प्रमाणवाद को कट्टरता से मानते थे। शंकराचार्य ने इसी प्रकार के रूढ़िवादी विचार का समर्थन किया। शंकराचार्य के पश्चात् इस धारा के प्रमुख विचारक विष्णु स्वामी, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य इत्यादि हुए। यह सभी लोग भारतीय सनातन धर्म

के कट्टर पक्षपाती थे और अति प्रामाण्यवाद के अनुयायी । सनातन धर्म की सभी मान्यताओं का इन विचारकों ने प्रतिपादन किया है ।

मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करने वाले मध्यगामी वर्ग के विचारकों में प्रधान स्थान रामानुजाचार्य का है जिन्होंने प्राचीन तथा अर्वाचीन में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया। श्री रामानुजाचार्य ने जहाँ सामाजिक क्षेत्र में शूद्रों को नीचा ही समझा वहाँ दूसरी ओर धर्म के क्षेत्र में उन्हें भी भगवान् की भक्ति का पूर्ण अधिकार दिया। रामानुजाचार्य ने किसी हद तक भारत के दलित वर्गों में पावनपन स्थापित किया और मानव-धर्म के निकट अपनी धार्मिक अवस्थाओं को लाने का प्रयास किया। शूद्रों के लिए रामानुजाचार्य ने प्रपत्ति का मार्ग दिखलाया। नरसिंह मेहता, नामदेव, रामदास, तुकाराम इत्यादि इसी रामानुजाचार्य के प्रपत्ति मार्ग के अनुयायी हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी की भक्ति-भावना भी प्रपत्ति विचार-धारा के अंतर्गत ही आती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने वैष्णव होते हुए भी समकालीन विविध मान्यताओं में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है और अपने प्रमुख ग्रन्थ मानस में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की समान रूप से उपासना की है। गोस्वामीजी ने रामायण को भाषा में लिखकर सर्वसाधारण तक धर्म को लेजाने का प्रयास किया और इस प्रकार रामायण जैसे प्रमुख धर्म ग्रन्थ को पंडितों और आचार्यों के हस्तों से निकाल कर जनता के घर-घर में पहुँचा दिया।

तीसरा वर्ग था स्वतंत्र विचारकों का जिनके सामने प्राचीन रूढ़िवादी आडम्बर कोई महत्व नहीं रखते थे। यह वर्ग अत्यन्त सरल और उदार वृत्ति का था, जिनकी भावना और जिसके विचार मानव-धर्म और मानव-कल्याण की भावना को लेकर चलते थे। बौद्ध धर्म और जैन धर्म इसी स्वतंत्र विचार-धारा से जन्म लेकर आये। यह स्वतंत्र विचारों का प्राबल्य प्राचीन रूढ़ियों के अत्याधिक प्रतिबन्धों के ही कारण होता है।

मध्ययुग में इस स्वतंत्र विचारधारा ने बहुत ही उच्छृंखल रूप धारण कर लिया। हिन्दू और बौद्ध धर्म दोनों ही इस काल में अधोगति को प्राप्त हो चुके थे और दोनो ही क्षेत्रों में पाखण्ड का बोल-बाला था। हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म दोनों में अनेकों सम्प्रदायों ने जन्म लेकर अपनी-अपनी ढफली और अपना-अपना राग अलापना प्रारम्भ कर दिया था। उन सभी की दशा पतनोन्मुख थी। धर्म के क्षेत्र से मर्यादा नष्ट हो चुकी थी, प्रवृत्तियाँ असात्विक होती जा रही थीं, बुद्धि का ह्रास हो रहा था, भावना कुंठित हो चली थी और दुराचरण का साम्राज्य स्थापित हो गया था। कबीर ने स्वतंत्रता के इस विशृंखल वातावरण को मर्यादा प्रदान की, असात्विकता को सात्विकता प्रदान की, मूर्खता को बुद्धि का सूर्य दिखलाया और दुराचरण को सदाचरण में बदलने का प्रयास किया।

कबीर ने उत्तर भारत में [illegible] को प्रवाहित किया। इस काल में इसी [illegible] दक्षिण भारत में भी देखने को मिलता है। [illegible] स्वतंत्र चिन्ता से ही जन्म लिया। यह सभी [illegible] उत्पन्न हुए। धर्म और समाज-सुधार की भावना को [illegible] में उतरे। कबीर की ही भाँति इन सम्प्रदायों के [illegible] हिन्दू तथा मुसलमान दोनों से ही अपने सम्प्रदाय को [illegible] चले। परन्तु इन सम्प्रदायों और उनके प्रवर्तकों को कबीर के समान [illegible] ही हैं। कबीर के साथ इन धर्म प्रवर्तकों को दार्शनिक और विचारक के नाते भी नहीं रखा जा सकता- केवल समानता यही है कि ये सभी विभिन्न सम्प्रदायों में समन्वय की भावना को लेकर चले।

कबीर धर्म और समाज सुधारक होने के साथ-ही-साथ एक दार्शनिक थे और एक उच्च कोटि के [illegible] थे। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण देश काल की सीमा से आगे ही जाता है। [illegible] इस काल के किसी अन्य विचारक में नहीं मिलती।

सूफी विचारकों में भी कुछ-कुछ स्वतंत्र चिन्ता ही अवश्य दिखलाई देती है परन्तु जहाँ तक मुसलमान, विचारकों का सम्बन्ध है वहाँ कोरा अंधविश्वास ही दिखलाई देता है, स्वतंत्र चिन्ता वहाँ नहीं है। सूफी विचारक मंसूर को स्वतंत्र चिन्ता ने ही उसे सूली पर चढ़ाया।

मध्य युग की स्वतंत्र-चिन्ता के विचारकों में कबीर का विशेष स्थान है और भारतीय जनता पर उनका महान् उपकार तथा आभार है। जनता में अपने सहज-धर्म द्वारा स्वतंत्र चिन्ता की भावना को जाग्रत कर देना कबीर का ही काम था। इस्लाम धर्म के तूफ़ान से भयभीत तथा आतंकित जातियाँ कबीर की विचार-धारा से आश्रय ग्रहण कर उसकी सहज-प्रणाली में प्रवाहित हुए और मत-परिवर्तन की बाढ़ में एक बाँध सा लग गया। छोटी जातियों को तो कबीर की सहज-विचार-धारा के अन्तर्गत मानो भगवान् ही मिल गये, आश्वासन मिल गया, सहारा मिल गया।

कबीर ने भारतीय जनता में भेद-भाव विहीन सहज-धर्म और सामाजिक नियमों का जो ढाँचा खड़ा किया उससे जनता को बल मिला, उनके नैतिक जीवन में सुधार की प्रवृत्ति जागरूक हो उठी और सभी में अपने जीवन, अपने समाज और अपने धर्म के प्रति स्वतंत्ररूप से विचार करने की प्रवृत्ति ने जन्म लिया।

इस प्रकार कबीर मध्य-युग का वह स्वतंत्र विचारक है जिसने अपना निजी दर्शन, निजी समाज-व्यवस्था, निजी आचरण का आदर्श, निजी नैतिक

सिद्धान्त, निजी धर्म-व्यवस्था जनता को प्रदान किये और वह सभी विश्वव्यापी मानव-धर्म के साधारण नियमों को अपने में सन्निहित करके चले। कबीर अपने समय की जनता के हृदय का नेता था और उसका नेतृत्व भारत की विभिन्न जातियों ने माना, इसमें आज सन्देह करने का कोई कारण नहीं।

एक साहित्यिक के नाते

कबीर जैसे स्वतंत्र विचारक के साहित्य पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि साहित्य के किसी भी रूढ़िवादी दृष्टिकोण से कबीर का मूल्याङ्कन करना—कवि के साथ अन्याय करना होगा। कबीर का साहित्य उसके हृदय की प्रेरणा है। उसके मस्तिष्क की विचार-धारा है और उस प्रेरणा तथा विचार-धारा का प्रचलित भाषा में सहज भाव से स्पष्टीकरण है। न तो वहाँ शब्दों का जटिल माया-जाल है और न अलंकार-शास्त्र का पांडित्य और छन्दों की उछल कूद। कबीर के साहित्य में तो विचारों का ही प्राधान्य है, भावना की पुट के साथ।

साहित्य की आत्मा उसकी भावना और उसका विचार ही तो हैं—उसकी भाषा नहीं, उसका शब्द-जाल नहीं, उसके अलंकार नहीं, छन्द-बन्धन नहीं। कबीर जनता का कवि था जिसने अपनी कविता में क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग न करके साधारण जनता में प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग किया है और यही कारण है कि उसकी वाणी साधारण जनता में उसी प्रकार प्रचलित हुई जिस प्रकार शिष्ट कहलाने वाले समाज में तुलसी का रामचरितमानस। भारत की छोटी कही जाने वाली जातियों में कबीर के पद आज भी असंख्यों की गणना में गाये जाते हैं।

कबीर का साहित्य लोकप्रिय साहित्य है केवल आचार्यों की बगल की पोथी मात्र नहीं।

जहाँ तक कबीर-साहित्य के अन्य गुणों का सम्बन्ध है वह हम पीछे विस्तार के साथ दे चुके हैं। कबीर-साहित्य में धर्म, समाज, आचरण, नैतिकता, व्यवहार इत्यादि सभी विषयों पर रचना मिलती है। कबीर का विचार-क्षेत्र बहुत व्यापक है और व्यापकरूप से ही उस पर कवि ने प्रकाश डाला है। आत्मा तथा परमात्मा के मिलन का जो संघर्ष कवि ने चित्रित किया है वह अद्वितीय है। कितना अनुपम है वह शृंगार कि पाठक की सम्पूर्ण रागात्मक वृत्तियों को झंकृत कर देने पर भी कहीं वासना के लिए कोई स्थान नहीं। पाठक पढ़कर पूर्णरूप से शृंगार रस का आनन्द लेता हुआ भी जयदेव या विद्यापति के पदों की भांति बह नहीं जाता। शृङ्गार में विरह का एक चित्र देखिए—

साईं बिन दरद करेजे होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूँ दुख होय।
आधी रतियाँ पिछले पहरवा, साईं बिना तरस रही सोय।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साईं मिले सुख होय।

—(कबीर, हजारीप्रसाद, पृ० २६६, पद १-१३०)

कबीर का साहित्य कवि के हृदय की वह सहज भावना और कल्पना है कि जिसमें बनावट के लिए तो कोई स्थान है ही नहीं। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि यह खान से निकला हुआ वह स्वर्ण है जिसे तपाया तो गया है परन्तु कुशल स्वर्णकार द्वारा उस पर हैमल (Diamond) नहीं काटा गया। कबीर ने इस स्वर्ण की स्वाभाविकता द्वारा ही सौंदर्य की अनुभूति प्रदान की है—उसमें बनावट को प्रश्रय नहीं दिया। जैसा कि हम ऊपर भी कह चुके हैं, शब्दों और भाषा को उस रूप में माँजना सहज धर्मी कबीर के लिए सम्भव भी नहीं हो सकता था। यह उसकी विचार-धारा के सर्वथा प्रतिकूल था।

कबीर के साहित्य में विचारों की वह ताजगी है जो मध्य युग के किसी भी कवि की रचना में उपलब्ध नहीं होती। आज के राष्ट्र कवि रवीन्द्र भी कबीर की ही वाणी से अनुप्राणित होकर विश्व को गीताञ्जलि जैसा अमर ग्रंथ प्रदान कर सके—यह उक्त कथन का ज्वलन्त प्रमाण है। कबीर-साहित्य में स्वतंत्र चिन्ता को जो स्थान मिला है वह मध्ययुग के साहित्य की अमर निधि है और आज के विचारक तथा साहित्यिक के लिए भी पथ-प्रदर्शन का मार्ग प्रशस्त करती है। कबीर-साहित्य ने समाज को वह स्वतंत्र विचार-धारा प्रदान की कि जिसके दर्पण में समाज अपने चित्र को भली प्रकार देख सके और स्वतंत्र रूप से उसकी कमियों को ठीक कर सके। प्राचीन रूढ़ियों के प्रतिबन्धों से कबीर ने अपने साहित्य को मुक्त रखा है और विचार, भावना तथा भाषा तीनों ही क्षेत्र में सहज भावना से काम लिया है।

एक धार्मिक प्रवक्ता के नाते

धर्म व्यक्ति के जीवन की वह सम्पदा है जिसके आधार पर वह अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है और फिर अपने से ऊपर उठकर समाज, देश तथा विश्व के प्राङ्गण में प्रवेश करता है। मानव के इतिहास में धर्म ने एक विशेष स्थान पाया है और एक युग रहा है जब राजनीति के सूत्रों का भी संचालन धार्मिक नेताओं द्वारा ही हुआ है। परन्तु इस प्रवृत्ति ने धर्म के मूल तत्त्वों को सम्मानित करने के स्थान पर उलटा अपमानित ही किया है और उसके द्वारा मानव-शांति में योग मिलने के स्थान पर उलटी अशांति और क्रन्दन ही विश्व को प्राप्त हुआ

है। बड़े-बड़े संग्रामों, लूट मारों और आक्रमणों का कारण धर्म बना है। इसके फल स्वरूप मानव के जीवन से साधारण धार्मिक तत्वों का लोप और स्वार्थ के साथ कट्टर रूढ़िवाद को प्रश्रय मिला है। इसी के फलस्वरूप मानव की स्वतंत्र विचार-धारा कुंठित हुई है और मूढ़ तथा भोली जनता की छाती पर स्वार्थप्रिय मनोवृत्ति वाले समुदायों ने व्यक्तिवादी विचार-धारा के अंतर्गत एकत्रित होकर मन मानी मूंग दली है, अत्याचार किये हैं।

इन्हीं अत्याचारों के युगों में एक के बाद दूसरे धार्मिक नेताओं ने जन्म लेकर मानव को मानव-धर्म के निकट लाने का प्रयास किया है। कबीर-कालीन मध्ययुग धर्म की प्रचलित रूपरेखा के अनुसार बाह्याडम्बरों में फँसकर अपने साधारण तत्वों को भूल चुका था। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही धर्म की प्रणालियाँ गलत मार्ग ग्रहण करती चली जा रही थीं। धर्म एक नाम मात्र की वस्तु रह गया था और इसके आवरण में लोगों को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का अवकाश मिलता था। मुसलमान बादशाह हिन्दू राज्यों पर धर्म का नाम लेकर आक्रमण करते थे और नर-संहार में प्रसन्न होकर अपने को धर्म का नेता मान बैठते थे। यह थी विजेता और विजित की कहानी परन्तु हिन्दू धर्म के नेताओं में भी जुल्म की मात्रा कम न थी। दलित जातियों के साथ उनका जो व्यवहार था वह किसी भी प्रकार मुसलमानों के हिन्दुओं पर होने वाले अत्याचारों से कम नहीं था। कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म के क्षेत्र में जो प्रवृत्ति इस समय प्रतिलक्षित होती थी वह पूर्णरूपेण स्वार्थप्रिय थी—उसमें लेशमात्र भी धर्म के साधारण नियमों की सरलता, सौम्यता, सद्गुण, सदाचार, सद्व्यवहार, दया, सच्चाई और ईमानदारी के गुण वर्तमान नहीं थे। धर्म के नाम पर यह स्वार्थप्रिय प्रवृत्ति अपना नग्न नृत्य कर रही थी।

कबीर ने एक विचारक के नाते भारतीय जनता में प्रश्रय पाने वाली इस प्रवृत्ति को परखा और फिर अपने सहज-धर्म द्वारा मानव-धर्म की स्थापना की। अकबर द्वारा स्थापित दीनइलाही धर्म में राजनीति की बू आसकती है परन्तु कबीर के सहज धर्म में इस प्रकार की किसी भावना को खोजना उस विचारक और धर्माचार्य के साथ अन्याय करना है। धर्म का प्रधान लक्ष्य मानव को शान्ति की प्रेरणा प्रदान करना है और यह तभी हो सकता है जब उसकी प्रवृत्तियाँ संघर्ष-मूलक न होकर असंघर्ष-मूलक हों। असंघर्ष-मूलक कहने से यहाँ हमारा तात्पर्य अकर्मण्यता मूलक से नहीं है, यह पाठकों पर स्पष्ट कर देना हम उचित समझते हैं।

कबीर ने अपने समय की संघर्षमूलक प्रवृत्तियों को शान्ति प्रदान करने का प्रयत्न किया और और रूढ़िवादी संघर्ष प्रिय विचारकों को समन्वय और शांति का मार्ग सुझाया। विश्व के इतिहास में मानव-कल्याण के लिए किये गए प्रयासों

में महाकवि कबीर का प्रधान एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कबीर ने जिस धर्म का भारत की जनता में प्रतिपादन किया। उसमें चाहे महान धार्मिक ग्रन्थों की प्रतिष्ठा न हो परन्तु मानव-हित का वह मूल स्रोत विद्यमान है कि जो युग-युग तक मानव-जीवन में शांति और प्रेम-रस का संचार कर सकता है।

कबीर मानव धर्म का अग्रदूत बन कर मध्ययुग में आया और उसने भारतीय जनता को पारस्परिक प्रेम और सद्भावना का संदेश दिया, मिथ्या-डम्बरों और पाखण्डों को चुनौती दी और जनता को विचार करने की शक्ति प्रदान की।

जन-हितवादी नेता के नाते

कबीर एक मजदूर था और मजदूरी के इस सीधे सच्चे जीवन में ही उसने दर्शन, समाज, धर्म और मानव-जीवन की परख की। अपने समय की कुरीतियों को परखा, धर्माडम्बरों को तोड़ा, दर्शन को नई रूपरेखा दी और समाज को एक जन-हितकारी पथ का संकेत दिया। जनता कबीर के लिए सब कुछ थी और वह भी गरीब जनता; वह जनता जिसे धर्म-शास्त्रों को पढ़ने और सुनने का अधिकार नहीं था, जिसे जीवन में धार्मिक शान्ति ग्रहण करने का कोई आश्रय नहीं था। मंदिरों में जिसकी पहुँच नहीं थी, समाज में जिसका नीचा स्थान था, उच्च वर्गीय लोग उससे घृणा करते हुए भी भगवान् के उपासक थे, उस भगवान् के जो दीनों का सहायक है। धर्म और भगवान् का न जाने क्या अर्थ था इन रूढ़िवादी विचारकों के मस्तिष्क में, परन्तु कबीर के लिए वह मान्य नहीं था।

कबीर की सहज-भावना जन हित की भावना थी। धर्म के क्षेत्र में प्रतिबन्ध का होना भारत के एक बहुत बड़े जन-समुदाय के मस्तिष्क में असंतोष का कारण बनी हुई थी। कबीर ने जन-हितकारी आन्दोलन की नींव रखी और समाज तथा धर्म के क्षेत्रों में संकुचित दृष्टिकोणों का खण्डन किया तथा मानव मात्र के लिए धर्म का मार्ग उन्मुक्त कर दिया। अपने सहज-भगवान् के मार्ग से कबीर ने, मंदिर, मसजिद, माला, घंटे, घड़ियाल-शंख इत्यादि सब उठा लिए और जनता के लिए वह सहज-मार्ग सुझाया कि जिसपर चलने में किसी को भी कठिनाई और आपत्ति न हो सके।

जन-हित की भावना कबीर के हृदय में वर्तमान थी। दलित, गिरे और पिछड़े वर्गों के उत्थान का कबीर ने सन्देश दिया और उन्हें ऊपर उठा कर उच्च वर्ग वालों के पास बिठला दिया। मानव मात्र को एक सम-भावना का मार्ग सुझाया।

कबीर का क्षेत्र पूर्ण रूप से कर्म और समाज ही था। आर्थिक क्षेत्र में

उन्होंने छूने का प्रयास ही नहीं किया परन्तु इतना तो सत्य ही है कि अर्थ-प्रधान वर्ग विशेषों का कबीर पर कोई प्रभाव नहीं था और पैसे को उन्होंने व्यक्ति से ऊपर कभी विशेषता प्रदान नहीं की।

कबीर-पन्थ का प्रचार आज भी हम दलित वर्ग के अन्दर ही विशेष रूप से पाते हैं। कबीर का यही वह जनहितकारी दृष्टिकोण था जो आज के युग में महाकवि टैगोर की वाणी में भी प्रस्फुटित हुआ और विश्व के कानों में गीताञ्जलि बनकर गूँज गया।

कबीर जनता का विचारक, जनता का धर्माचार्य, जनता का सुधारक और जनता का प्रतिनिधि था। उसकी वाणी के शब्द-शब्द से जन-हित की भावना झंकृत होती थी। कबीरदास भारतीय परम्परा के अनुसार सम-दर्शन के मानने वाले थे। यों ऊपर से देखने पर तो साम्यवाद से उसके विचारों का मेल नहीं खा सकता क्योंकि कबीर देहवादी व्यक्ति न होकर आत्मवादी व्यक्ति थे और दैहिक सुख समृद्धि के पश्चात् भी वह कुछ अन्य प्राप्य वस्तुएँ मानते थे, परन्तु जहाँ तक जन-हित के क्षेत्र में समता का सम्बन्ध है वह तो कबीर की ही साधना ही थी।

आधुनिक साम्यवाद और कबीर का समदर्शन

कबीर के समदर्शन और आधुनिक साम्यवाद में मौलिक अन्तर है। कबीर का "आत्मवाद मनुष्य के सांसारिक और सामाजिक सुख-संतोष की ओर एकदम उदासीन नहीं। उसकी व्यवस्था करने में वह भौतिक साम्यवाद से पीछे नहीं प्रत्युत स्थायित्व और व्यापकता की दृष्टि से उससे कहीं आगे ही बढ़ा हुआ है। उसके लिए सुख में ईंधन के योग से निरन्तर धधकती रहने वाली अग्नि की तरह बढ़ती हुई अमिट लालसा नहीं, स्थायी तृप्ति और शान्ति है, क्योंकि भौतिक सुख उसका साध्य नहीं, किसी बड़े साध्य के लिए साधन मात्र है। उसकी तृप्ति और शान्ति भीतर से आती है, केवल बाह्य साधनों पर अवलम्बित नहीं। आत्मवादी शरीर और मन की आवश्यकताओं और इच्छाओं का दास नहीं, स्वामी है; इसलिए भोग सामग्रियों को वह भोग भी सकता है, ठुकरा भी सकता है। उसके उस निर्द्वन्द्व सुख की तुलना हो ही नहीं सकती। सच्ची समता की बात तो आत्मवादी का साम्य-सिद्धान्त केवल देश या वर्ग विशेष के व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, न वह केवल अपने कट्टर अनुयायियों के लिए है। उसके विश्व-समाज में प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति और प्रत्येक धर्म के मनुष्यों के लिए समान स्थान है।……भौतिक और आध्यात्मिक साम्यवाद में सबसे बड़ा अन्तर इस बात का है कि पहला तो बाह्य भौतिक सामग्रियों पर नियन्त्रण करके उनके समान वितरण द्वारा व्यक्तियों की सुख-शान्ति का प्रबन्ध करता है और दूसरा भौतिक परिस्थितियों की अनिवार्य विषमता

को आंतरिक एकत्व-दर्शन के द्वारा दुःख और कलह के स्थान पर सुख और शान्ति का कारण बना देता है।"

—(कबीर दर्शन का अध्ययन—पृ० २७७--२७८)

कबीर को हम भारतीय आध्यात्मिक समदर्शन का प्रतीक मानते हैं। यह सच है कि आपने आर्थिक क्षेत्र में कोई क्रान्ति का बीजारोपण नहीं किया परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में सम-भावना का संदेश आपने दिया और बड़ी ही निर्भीकता के साथ दिया, पुराने पोंगापंथी आडम्बरवादी आचार्यों का सीधा-सीदा विरोध करके दिया। कबीर ने न तो प्राचीन शास्त्र-पंथ को अपनाया और न समाज के वर्तमान वर्गीकरण में ही अपनी आस्था प्रगट की। आपने त्याग, तपस्या, सदाचार, समता और सद्भावना का वह साम्यवाद भारतीय जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया जिसमें जन-हित की भावना निहित था और थी मानव की बाहिर तथा आन्तरिक शान्ति।

कबीर का हर संदेश किसी व्यक्ति, समाज, जाति, देश या वर्ग-विशेष के लिए नहीं है। वह तो मानव मात्र के लिए है। हम कबीर को मध्ययुग का सब से बड़ा जनवादी विचारक मानते है, जिसने जनता के बीच की अनेकों दीवारों को गिराकर समाज में एक समतलता लाने का प्रयास किया और धर्म की उस रूढ़िवादी विचार-धारा के विरुद्ध आवाज उठाई जो इस युग की प्रधान शक्ति थी, राजनीति के क्षेत्र पर जिसका प्रधान प्रभाव था और जनता के भी स्वार्थी उच्चवर्ग की जिसके साथ सहानुभूति ही नहीं उसमें मान्यता भी थी।

प्रतिभासम्पन्न क्रान्तिकारी के नाते

संक्षेप में, कबीर और कबीर-साहित्य पर एक दृष्टि डालने के पश्चात् हम कबीर में उसकी अलौकिक प्रतिभा और उसकी सत्यानुभूति के दर्शन पाते हैं। सत्यानुभूति में उनकी अलौकिक प्रतिभा ने योग दिया—जिसके फलस्वरूप कबीर के दर्शन और उसके सिद्धान्तों का निर्माण हुआ। कबीर का जीवन हमें प्रयोगों और सत्यान्वेषणों की श्रृंखला-सी प्रतीत होता हैं। शाश्वत आत्मतत्त्व का कबीर की अलौकिक प्रतिभा द्वारा गुणगान नहीं किया गया वरन् इतिहास लिखा गया है। इन खोज और परख के प्रयोगों को करते समय जो असत्य और मिथ्या देखा है उसके त्याग पर बल देने में कबीर ने संकोच नहीं किया। कबीर इस दिशा में महान क्रान्तिकारी रहा है। महान सम-दर्शनवादी रहा है और महान् जन-हित की भावना को उसने अपनी वाणी द्वारा मुखरित किया है। मध्ययुग के विचारकों में कबीर की यह सम-दर्शन की भावना विश्व-इतिहास में क्रान्ति-अध्याय के ही पन्ने पर लिखी जायगी।

कबीर अपने युग का एक सबल प्रतिभाशाली क्रान्तिकारी था। प्रतिभा की चारों प्रधान शक्तियाँ तत्व ग्राहणी शक्ति, तत्व धारणा शक्ति, उद्भावना शक्ति और अभिव्यञ्जना शक्ति कबीर में अपरिमित रूप से विद्यमान थीं। केवल सुनने मात्र से वह तत्व ग्रहण कर लेते थे। जटिल-से-जटिल विषय उनके समक्ष सरल और सहज थे। हिन्दू और मुसलमानों के दर्शन को आत्मसात कर अपना साम्यवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर देना कबीर की प्रतिभा की तत्व-ग्राहिणी शक्ति के ही फल स्वरूप सम्भव हो सका। तत्व जानने के साथ-ही-साथ उन्हें हर समय धारण किये रहने और स्मरण रखने की शक्ति भी कबीर में विशेष थी। कबीर का मस्तिष्क एक सागर के समान था जिसके अन्दर में तथ्य और अनुभवों असंख्य रत्न विद्यमान थे।

तत्व ग्रहण और धारण करने के साथ-ही-साथ कबीर में उद्भावना और अभिव्यञ्जना की भी कमी नहीं थी। कबीर के कथन में एक मौलिक कल्पना का रूप हमें दिखलाई देता है। प्रचण्ड कल्पना कबीर-साहित्य में विद्यमान है। कबीर की रहस्यवादी विरह-वेदना का जन्म कबीर की कल्पना-शक्ति से ही हुआ है। वह कल्पना—कितनी मधुर, कितनी कोमल और कितनी हृदयग्राही है। कबीर के रूपकों को, उलटवांसियों, अन्योक्तियों इत्यादि में हमें कवि की मौलिक योजना के दर्शन होते हैं। कबीर-साहित्य में हमें पिष्ट-पेषण नहीं मिलता, नहीं तो हर अभिव्यक्ति कबीर के अपने साँचे में पृथक से ढलकर आती है। कबीर के विचारों का तो साँचा ही अलग है—और वह है सहज का साँचा। केवल 'सहज' शब्द में कबीर का दर्शन, कबीर की विचार-धारा, कबीर की कल्पना, कबीर की अभि-व्यञ्जना, कबीर की मौलिकता सभी कुछ तो आ जाते हैं। कबीर की अभिव्यञ्जना ही कबीर की वाणी का प्राण है। कवि की प्रतिभा को अनुप्राणित करने वाली शक्ति यही अभिव्यञ्जना है और इसी के द्वारा कवि के भावों की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ आचार्य हजारीप्रसाद जी का निम्नलिखित वाक्य फिर हमारे कानों में बज उठता है--"कबीर भाषा का डिक्टेटर है..............जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है। बन गया है तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो इतनी हिम्मत ही नहीं कि वह लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके।" मतलब यह है कि कबीर में अभिव्यक्ति-सौष्ठव पूर्णरूप से विद्यमान है।

एक क्रांतिकारी प्रतिभा सम्पन्न विचारक के नाते कबीर ने मध्ययुग की जनता को जनहित का मार्ग सुझाया। कबीर में प्रतिभा के साथ-ही-साथ अनुशीलन की विलक्षण शक्ति भरी पड़ी थी। अनुशीलन ही उनकी परख की कसौटी थी।

अनुशीलन के पश्चात् सत्य जचने वाली वस्तु का समर्थन और असत्य लगने वाली वस्तु का खण्डन करना वह अपना धर्म समझते थे। कबीर का अनुशीलन निष्पक्ष था, अरूढ़िवादी था, पूर्ण रूप से बौद्धिक था परन्तु कुछ मान्यताओं को लेकर, कुछ विश्वासों के साथ। अपने अनुशीलन में सत्य जँचने वाली प्रणालियों का प्रतिपादन कबीर ने अनेकों बवंडरों का सामना करते हुए भी किया। कबीर ने सर्वदा नीर-क्षीर का निर्णय अपनी इसी अनुशीलन प्रवृत्ति के आधार पर विवेक का आश्रय ग्रहण करके किया। समाज, धर्म, दर्शन, साहित्य सब कबीर ने इसी कसौटी पर कसे।

विशुद्ध अनुशीलन के फलस्वरूप कबीर को बहुत सी अच्छी बातें संग्रह करने का अवसर मिला, बहुत से सारे विचारों को वह संग्रहीत कर सके और फिर अपनी वाणी द्वारा उन्हें कबीर ने जनता तक भी पहुँचाया। आत्मा और परमात्मा की जटिल ग्रन्थियों को खोलने के साथ-ही-साथ कबीर ने व्यक्ति के जीवन की सचाई पर भी विशेष बल दिया है और आचरण का आदर्श जनता के सामने रखा। कबीर ने हर स्थान पर मिलनेवाले ऊँचे विचार को अपनाया है, उसका सम्मान किया है और यही विचार वास्तव में कबीर की वाणी की वह अमूल्य सम्पत्ति हैं जो युग-युग तक मानव के अन्धकारपूर्ण मार्ग को प्रकाशमान करते रहेंगे।

कबीर का समस्त जीवन उनके काल की परिस्थितियों की प्रतिक्रिया है। कबीर के जीवन की क्रांतिमय भावना कभी भी युगीन अंधकार पूर्ण प्रवृत्तियों का साथ नहीं दे सकती थी। अनेकों धर्म और साधनाओं के बीच बाह्याडम्बरों और स्वार्थ की पोल देखकर कबीर तिलमिला उठा। उसकी विचार-धारा सहन ही न कर सकी उन्हें और उनके विरुद्ध कबीर ने प्रचण्ड रोष प्रकट किया। समाज, धर्म, दर्शन और सभी विचारों, प्रवृत्तियों तथा साधनों पर कबीर की दृष्टि गई और कबीर ने सभी को अपने दृष्टिकोण से पछोर कर देखा और अनुशीलन द्वारा परखा। इस निरन्तर प्रयोग और अनुशीलन की भट्टी में तपाकर यह विचारक सन्त जो कुन्दन भी अपने जीवन भर तय्यार कर सका बस वही कबीर की वाणी है, वही कबीर की मानव को देन है, वही कबीर के जीवन की साधाना है, आराधना है, प्रयास है, विचार है—कबीर का सब कुछ वही तो है।

अध्याय १०

कबीर-साहित्य की परम्परा

मुसलमानों के भारत में आकर बसजाने से देश के वातावरण में और विशेष रूप से देश के विचारकों के मस्तिष्क में किसी 'सामान्य' मार्ग को खोज निकालने की टरक तो यों वीरगाथा काल में ही प्रारम्भ हो चुकी थी; नाथ-पंथी योगी और सिद्धों ने यह मार्ग खोज ही निकाला था परन्तु सगुण भक्ति के सामने 'सामान्य भक्ति' के निर्गुणवादी दृष्टिकोण को सर्वप्रथम जन-समुदाय तक सफलता पूर्वक पहुँचाने का श्रेय महात्मा कबीर को ही पहुँचता है। जिन शास्त्रज्ञ विद्वानों को नाथ पंथी योगी और सिद्ध किंचित मात्र भी प्रभावित न कर सके थे उन्हें सर्व-प्रथम कबीर ने ही ललकारा।

जैसा कि हम पीछे संकेत कर चुके हैं कबीर ने समन्वय की भावना से अपने साहित्य का सृजन किया। उन्होंने तो जो कुछ भी कहा है उसमें अपने समय के विभिन्न विचारों और विचारकों के मूल तत्वों को सँजोकर ही कहा है।

निर्गुण पन्थ की स्थापना

निर्गुण की उपासना का जो मार्ग कबीर ने सुझाया और उसके अन्तर्गत जो विचारों की परम्परा बनी उसमें समय के प्रायः सभी सम्प्रदायों, दर्शन शास्त्रों धर्म-ग्रन्थों और रहस्यवादी विचारों का एकीकरण हो गया है। योग, वैष्णव धर्म और बुद्ध-धर्म के तत्व किसी न किसी रूप में इस निर्गुण पन्थ की विचार-धारा के अन्दर निहित थे। इस धारा में बुद्ध-धर्म का 'शून्य'-वाद और 'निर्वान' भी था और गुरु गोरखनाथ का हठयोगी तांत्रिक मायाजाल भी; वेदान्त का अद्वैत भी था; सूफ़ी धर्म की प्रेम-पीर का विरह-वर्णन भी; पतञ्जलि और कपिल के योग-सूत्रों का भी संकेत था और वैष्णवों की दास्य-भक्ति, भी इसमें कूट-कूट कर भरी थी। निर्गुण-पंथ का साहित्य तीखा भी था और मीठा भी, कसक भी थी उसमें और फटकार भी। वास्तव में निर्गुण-धारा का यह साहित्य अपने समय को महान जन-हित क्रांति का संदेश था। यह संदेश जनता के निकट पहुँचा

और देश की पराधीन परिस्थितियों के बावजूद भी उसने कम-से-कम धर्म के क्षेत्र में समानता स्थापित की। निर्गुण पंथ का यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य था जिसने विविध विचारों के मूल तत्वों को एक ही स्थान पर संग्रहीत कर दिया। यही संत-साहित्य का मध्य-मार्ग था।

मध्य-मार्ग ग्रहण करने की भारतीय प्रवृत्ति कबीर और उनके पश्चात् आने वाले संत साहित्य के कर्णधारों ने अपनाई। वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, पुराण, रामायण, महाभारत, गीता और उसके पश्चात् जैन, बौद्ध, महायान, नाथ सम्प्रदाय—यह जितने भी ग्रन्थ और सम्प्रदाय हमारे सामने हैं इन सभी में मध्य-मार्ग की प्रवृत्ति पाई जाती है। वास्तव में भारतीय दृष्टिकोण आदि काल से विद्रोहात्मक न होकर परिवर्तनशील रहा है और किसी भी नवीन बात को ग्रहण (Adopt) करने की भी इसमें क्षमता रही है। भारतीय संस्कृति की ही यह विशेषता है कि वह सभी विचारधाराओं को अपने में समोकर अपना बना लेती है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता भारत में जन्म लेने वाली प्रायः सभी प्रधान विचारधाराओं और धर्मों में रही है।

अद्वैत और द्वैत योग—

निर्गुण पंथ ने भी समय के प्रचलित सभी दर्शनों को आत्मसात किया और सभी सम्प्रदायों के लोगों को अपनाया। सभी धर्म-ग्रन्थों की विचार-धाराओं और धार्मिक-सिद्धान्तों का सम्मिश्रण भी चलता गया। एकांतिक धर्म का विकास हुआ और शङ्कराचार्य ने ईश्वरवाद को विशेष मान दिया। परन्तु इस मत के प्रति विपरीत विचार रखने वाले पैदा होते जा रहे थे ! विचार के गर्भ में विशिष्टाद्वैत, द्वैत, भेदाभेद इत्यादि ग्रन्थियाँ पड़ने लगी थीं। स्वामी रामानन्द ने अद्वैत और द्वैत का मिश्रण कर विशिष्टाद्वैत की स्थापना की। शङ्कर का अद्वैत और वैष्णव-भावना का द्वैत एक स्थान पर आकर एक दूसरे में तिरोहित हो गये।

प्राचीन योग और बौद्ध धर्म का योग—

इसी काल में प्राचीन योग बौद्धिक विचारों और परम्पराओं का भी सम्मिश्रण हुआ। इन दोनों के योग से योगाचार-तंत्रवाद की स्थापना हुई। योगाचार-तंत्रवाद को मानने वाला सिद्धों का एक बहुत बलवान समुदाय बना, परन्तु ज्यों ही इसमें शृंगार का पदार्पण हुआ तो उनके विचारकों में खलबली मच गई और यह सम्प्रदाय वज्रयान और नाथ दो पृथक सम्प्रदायों में बँट गया। सिद्ध-सम्प्रदाय ने शृंगार का घोर विरोध किया और यही विरोधी सम्प्रदाय नाथ-सम्प्रदाय बना। इसी समय में इस योग ने वैष्णव धर्म को भी प्रभावित किया। वैष्णव धर्म में

योग की मान्यता तो पहिले से ही वर्तमान थी—केवल प्रश्न था इस नये प्रकार के योग को अपनाने का। सो उसमें अधिक समय नहीं लगा।

इसी समय श्री राघवानन्दजी का प्रादुर्भाव हुआ जो अद्वैतवादी थे और योगी भी। रामानन्द ने इन्हीं से अद्वैतवाद की दीक्षा ली। राघवानन्दजी के सम्पर्क से रामानन्द के जीवन में वेदान्त, भक्ति और योग तीनों समय के प्रचलित रूपों के प्रति मोह उत्पन्न हो गया और उन्होंने तीनों को ही अपना लिया। रामानन्द ने तीनों खज़ानों की निधि बटोरकर महाकवि कबीर के लिए एकत्रित कर दी। निर्गुण पन्थ की परम्परा का यही मूल सिद्धान्त था जिसका स्थिर रूप रामानन्द ने ही निश्चित कर दिया था।

निर्गुण पन्थ को कबीर की देन

रामानन्द द्वारा निर्धारित वेदान्त, वैष्णव धर्म और योग की विचार-धारा के एकीकरण को कबीर ने ज्यों का त्यों अपना लिया, उससे उन्हें कोई विरोध हो ही नहीं हो सकता था। परन्तु साथ-ही कबीर इस विचार-धारा में मूर्तिपूजा और अवतारवाद को ग्रहण न कर सके। वैष्णव धर्म की इन दो प्रधान मान्यताओं पर इन्हें आपत्ति थी और इनका कबीर ने जी खोल कर खंडन किया। इन दो प्रधान बातों के अतिरिक्त तीर्थाटन, माला इत्यादि और बाह्याडम्बरों वाली धर्म की विशेष मान्यताओं को भी कबीर ने अपनी विचार-धारा में स्थान नहीं दिया।

सांसारिक स्त्री पुरुष के रूपक में ब्रह्म और आत्मा को बाँधने का भी प्रथम प्रयास कबीर का ही है। कबीर ने ही सर्वप्रथम इस निर्गुण धारा के अन्तर्गत ईश्वर और आत्मा को नर और नारी के रूपकों में पाया। मूर्तिपूजा और अवतारवाद का खंडन तो माना है कबीर ने मुसलमान विचार-धारा से प्रभावित होकर किया हो परन्तु स्त्री और पुरुष के रूप में ईश्वर और आत्मा को देखना—भारत की प्राचीन परम्परा है। सूफ़ी लोग भगवान को स्त्री और आत्मा को पुरुष के रूप में देखते हैं। जायसी के पद्मावत ग्रन्थ में रत्नसेन आत्मा है और पद्मनी परमात्मा, परन्तु कबीर में उलटा ही रहा है।

कबीर ने अपने साहित्य में वेदान्त, योग और भक्ति तीनों का समन्वय करने पर भी तीनों को ही फटकारें बतलाई हैं। कबीर की विचार-धारा वैष्णवों के [illegible] से अधिक निकट रही है क्योंकि इनमें कबीर को दम्भ का लोप और समरसता की भावना के दर्शन हुए। भक्ति की भावना में प्रपत्ति का होना कबीर को बहुत प्रिय [illegible] और फिर उनकी 'सहज' भावना को वैष्णव-धर्म में ही विश्राम मिल सकता था। परन्तु यह सब सत्य होने पर भी उन्हें पूर्ण वैष्णव कहना भूल होगी क्योंकि वैष्णव धर्म की साधारण मान्यताओं पर विश्वास रखने हुए भी उसकी

उन्हें, जो कुछ भी मानव-हित में हो, वही इस सहज-धर्म का अङ्ग बन सकता था।

निर्गुण पन्थ का जन्मदाता

कबीर रामानन्द जी के शिष्य थे और उन्हीं से कबीर ने वेदान्त, योग और भक्ति के सङ्गम पर दीक्षा ली और उन्हीं की विचारधारा को जीवन भर कुछ परिवर्तित तथा परिवर्धित रूप में आगे भी बढ़ाया, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या रामानन्द जी निर्गुण-पन्थ के जन्म दाता थे—नहीं, यह सत्य नहीं है। उक्त तीनों विचारों के समन्वय का बीजारोपण कबीर के अन्तर में करने का श्रेय तो रामानन्द को ही प्राप्त था परन्तु निर्गुण-पन्थ की परम्परा कबीर से ही स्थापित होती है। निर्गुण-पन्थ की प्रधान मान्यताओं का निर्धारण कबीर ने ही किया और पन्थ को एक रूपरेखा भी कबीर ने ही प्रदान की। साथ ही जो व्यवस्था तथा प्रचार नाथ-पन्थ का हुआ उसका पूरा श्रेय कबीर को ही पहुँचता है। निर्गुण पन्थ की स्थापना के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—"हृदय पक्ष शून्य सामान्य अन्तस्साधना का मार्ग निकालने का प्रयत्न नाथ-पन्थी कर चुके थे, यह हम कह चुके हैं।[1] पर रागात्मक तत्त्व से रहित साधना से ही मनुष्य की आत्मा तृप्त नहीं हो सकती। महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (सं० १३२८—१४०८) ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति-मार्ग का भी आभास दिया था। उनके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग 'निर्गुण-पन्थ' के नाम से चलाया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कबीर के लिए नाथ-पन्थी जोगी बहुत कुछ रास्ता निकाल चुके थे। भेद-भाव को निर्दिष्ट करने वाले उपासना के बाहरी विधानों को अलग रखकर उन्होंने अन्तस्साधना पर जोर दिया था। पर नाथ-पन्थियों की अन्तस्साधना हृदय-पक्ष शून्य थी, उसमें प्रेम तत्त्व का अभाव था। कबीर ने यद्यपि नाथ-पंथ की बहुत सी बातों को अपनी बानी में जगह दी, परन्तु यह बात उन्हें खटकी। इसका संकेत उनके यह वचन देते हैं—

झिलमिल झगरा झूलते बाकी रही न काहु।
गोरख अटके कालपुर कौन कहावै साहु॥
बहुत दिवस ते हिंडिया सुन्नि समाधि लगाइ।
करहा पड़िया गाड़ में दूरि परा पछिताइ॥

[करहा = (१) करभ, हाथी का बच्चा (२) हट योग की किया करने वाला]

अतः कबीर ने जिस प्रकार एक निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदान्त का पल्ला पकड़ा था उसी प्रकार उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफियों का

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास--रामचन्द्र शुक्ल पृ० १६

प्रेमतत्व लिया और अपना 'निर्गुण-पन्थ' बड़ी धूम-धाम से निकाला। बात यह थी कि भारतीय भक्ति-मार्ग साकार और सगुण रूप को लेकर चला था, निर्गुण और निराकार ब्रह्म-भक्ति या प्रेम का विषय नहीं माना जाता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथ-पन्थियों के प्रभाव से प्रेम-भाव और भक्ति रस से शून्य और शुष्क पड़ा था।

—(हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ६४)

कबीरदास ने देश के वातावरण में जिस निर्गुण-पन्थी भावना को जन्म दिया उसके फल स्वरूप कबीर-पन्थ, दादू-पन्थ, नानक-पन्थ जग्गू-पन्थ, सत्नामी पन्थ, साहिब-पन्थ, राधास्वामी-पन्थ इत्यादि बहुत से पन्थों का जन्म हुआ। इन सभी पन्थों के गुरु प्रथक-प्रथक चाहे रहे हों परन्तु इनकी प्रधान मान्यताएँ वही रही हैं जिनकी स्थापना कबीरदास अपने सहज-धर्म में कर गये।

निर्गुण पन्थ एक विचार धारा है

इस प्रकार ऊपर देखने से यह स्पष्ट होजाता है कि निर्गुण-पन्थ कोई सम्प्रदाय नहीं वरन् एक महान विचार-धारा थी, धर्म की व्यवस्था थी और वह इतनी व्यापक थी कि सृष्टि के अन्त तक आने वाला कोई भी स्वतंत्र विचारक उसमें स्थान पा सकेगा। उसे अपना नया घर बनाना नहीं होगा केवल मड़ैया डाल लेनी होगी कबीर के साफ किये मैदान में; कबीर ने तो विचारकों के लिए एक व्यापक मैदान बना कर छोड़ दिया है, जहाँ पर पुरानी गली सडी दुर्गन्ध नहीं, चारों ओर से खुली हवा आती है और इस स्वच्छ वायु मण्डल में बैठकर कोई भी विचारक अपने विचारों की सुगन्धि को फैला सकता है और जनता का हित कर सकता है। कबीर ने केवल उन पुरानी दीवारों को ढहाया है जिनके बन जाने से, कभी जन-हित की रक्षा हुई होगी, परन्तु आज स्वच्छ हवा रुक रही थी, दम घुट रहा था और उन दीवारों तथा छतों को रहने दिया जो जन-हित को सुरक्षा प्रदान करती थीं।

कबीर ने जिस निर्गुण-विचार-धारा को जन्म दिया वह निराली ही विचार-धारा थी और उसमें हर स्वतन्त्र प्रकृति वाले फक्कड़ के लिए विचरने को मुक्त स्थान था, विचार करने के लिए स्वतन्त्र चेतना थी और कार्य करने के लिए मत-मतांतरों और सम्प्रदायों की बंदिशों से मुक्त वातावरण था। एक नई स्फूर्ति दी इस विचार-धारा ने देश की जनता को, देश के समाज को और देश के व्यक्ति को।

मध्य युग में गोरख-पन्थ की धारा, निर्गुण पन्थी धारा, सगुण पन्थी धारा और सूफ़ी धारा समानान्तर चलती रही हैं। सभी प्रवाहित हुई हैं अपने प्रथक-प्रथक रूपों को लेकर। कहीं पर यह आपस में मिलती गई हैं और फिर प्रथक हो गई हैं—परन्तु इन सभी का कार्य क्षेत्र एक होने पर भी, साम्यता बनजाने पर भी

प्रथकता वर्तमान रही है। इन सब धाराओं की अपेक्षा निर्गुण धारा में मध्य-मार्ग ग्रहण करने की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में पाई जाती है। इसी लिए इसके सिद्धान्त व्यापक होने पर भी इसकी ऊपरी रूप-रेखा इतनी उभर कर जनता के सम्मुख नहीं आसकी और यह कोई कट्टरवादी पन्थ नहीं बनसका। इसे इस प्रकार रूढ़ियों में जकड़ कर कट्टरवादी पन्थ बनाना कभी कबीरदास का लक्ष्य भी नहीं रहा। कबीर का एक विचार था 'सहज प्रतीति' का और वह इसी का समावेश मानव-हित के लिए उसकी धर्म-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था में करना चाहते थे।

कबीर अपनी विचार-धारा को प्रसारित, प्रचारित और प्रतिपादित करने में पूर्ण रूप से सफल रहे। जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं इस विचार-धारा में बहकर बहुत से सन्त-विचारकों ने अपने पन्थ चलाये और सभी ने कबीर को मान्यता दी। कबीर की वाणी को अपनाया और अपने पन्थ का श्री गणेश ही उस वाणी से किया।

निर्गुण-धारा के कवि

महाराष्ट्र में नामदेव ने सामान्य भक्ति मार्ग की विचार-धारा को प्रवाहित किया और अपनी कविता का श्रोत भी बहाया परन्तु उन्हें हम निर्गुण-मार्गी कवियों की परम्परा में स्थान नहीं दे सकते। इस धारा का प्रवाह तो हम कबीर की ही वाणी से मानते हैं। कबीर वास्तव में इस विचार-धारा के जन्मदाता और इस प्रणाली की कविता का श्री गणेश करने वाले कवि थे। कबीर के विषय में हम पीछे विस्तार के साथ कह चुके हैं, इस लिए और कुछ यहाँ नहीं कहेंगे। कबीर के पश्चात् इस धारा में बहकर अपनी रचनाएँ हिन्दी साहित्य को प्रदान करने वाले कवियों का संक्षेप में परिचय करा देना यहाँ पर आवश्यक है। कबीर के पश्चात् दूसरे निर्गुण विचारक सन्त कवि रैदास या रविदास हैं।

रैदास या रविदास—रामानन्दजी के बारह शिष्यों में रैदास जी भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। रैदास जी जाति के चमार थे। रैदास जी ने अपने ही पदों में अपने को चमार[1] कहा है। कबीर की भाँति रैदास भी काशी के ही रहने वाले थे।[2] इन की भक्ति भी निर्गुण विचार-धारा के अंतर्गत ही बहती

---

१. (१) कह रैदास खलास चमारा।
(२) ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार।
—(हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृ ८१)

२. जाके कुटुम्ब सब ढोर ढोवत।
फिरहिं अजहुं बानरसी आसपासा।

है। मीरा बाई और धन्ना ने इनका नाम बड़े आदर के साथ
के कई शिष्य हुए और पश्चिम की ओर इनके फर्रुखाबाद और
दाय भी पाये जाते हैं।

रैदास की रचनाओं का कोई ग्रन्थ-विशेष नहीं मिलता। कुछ फुटकल पद सन्त बानी सीरीज में 'रैदास-बानी' के नाम से संग्रहीत हैं। इनके चालीस पद आदि गुरुग्रन्थसाहब में मिलते हैं। एक पद देखिए—

माधव क्या कहिए प्रभु ऐसा जैसा मानिए कोई न तैसा।
नरपति एक सिंहासन सोइया, सपने भया भिखारी।
अछत राज बिछुरत दुख पाइया, सोगति भई हमारी॥

इन पंक्तियों को पढ़ने से पता चलता है कि इनमें निर्गुण-विचार-धारा का सार भरा हुआ है।

धर्मदास—धर्मदास जाति के बनिए थे और इनका जन्मस्थान बाँधवगढ़ था। साधु-सत्सङ्ग इन्होंने बाल्य काल से ही प्रारम्भ कर दिया था और दर्शन, पूजन, तीर्थाटन इत्यादि में रत रहने लगे थे। कबीर से धर्मदास का साक्षात्कार मथुरा से लौटते समय हुआ। जब इन्होंने कबीर से मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, देवार्चन, माला और अन्य पाखण्डों का खण्डन सुना तो यह बहुत प्रभावित हुए और इनका झुकाव निर्गुण-पन्थ की ओर होगया। धर्मदास का हृदय यहीं से परिवर्तित हुआ और उन्होंने कबीर से 'सत्य नाम' की दीक्षा लेली। इसके पश्चात् यह कबीर के जीवन पर्यन्त अनन्य भक्तों में रहे। कबीर की समस्त बानी को संग्रहीत करने का प्रधान श्रेय इन्हीं को पहुँचता है। सवत् १५७५ में कबीर की मृत्यु के पश्चात् उनकी गद्दी पर धर्मदास ही बैठे।

धर्मदास बहुत बड़े त्यागी थे और जब इन्होंने कबीर से दीक्षा ली थी तो अपनी सब सम्पत्ति ही दीन दुखियों में लुटा दी थी। कबीर के पश्चात् लगभग बीस वर्ष तक धर्मदास गद्दी पर रहे और जब इन्होंने अपना शरीर छोड़ा तो यह बहुत वृद्ध थे।

धर्मदास की कविता कबीर की अपेक्षा सरल और मधुर है। कठोरता और कर्कशता उसमें बिलकुल नहीं है। भाषा इन्होंने पूर्वी ही प्रयोग की है। धर्मदास ने जो अन्योक्ति के व्यञ्जक चित्र अपनी बानी में प्रस्तुत किये हैं वह बहुत ही सुन्दर तथा मार्मिक हैं। कबीर की भाँति धर्मदास का झुकाव विशेष रूप से खण्डनात्मक

आचार सहित विप्र करहिं डण्डवति
तिन तनै रविदास दासानुदासा॥
—(हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृ० ८१)

प्रवृत्ति और उपदेशात्मकता की ओर नहीं रहा। इनकी जो रचनाएँ मिलती हैं उनमें प्रेम की ही प्रधानता है। धर्मदास की कविता का एक उदाहरण देखिए—

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो
अपना बलम परदेस निकरि गैलो, हमरा के किछुवो न गुन दै गैलो।
जोगिन होइके मैं बन-बन ढूँढ़ौ, हमरा के विरह-वैराग दै गैलो॥
सङ्ग की सखी सब पार उतरि गइलो, हम धनि ठाढ़ि अकेली रहि गैलो।
धरमदास यह अरज करतु है, सार सबद सुमिरन दै गैलो॥

यहाँ भी सूक्ष्म रूप से देखने से पता चलता है कि इस पद में कबीर के विचारों की आत्मा समाविष्ट है।

नानक—संवत् १५२६ कार्तिकी पूर्णिमा के दिन नानक का जन्म तिलवण्ड ग्राम में हुआ था। यह ग्राम लाहौर जिले में है। इनके पिता कालूचन्द जी जाति के खत्री थे। यह लाहौर की शरकपुर तहसील के लिवण्डी नगर के पठान सूज़ा बुलार के कारिन्दे थे। नानक की माता का नाम तृप्ता था। नानक का स्वभाव बाल्य-काल से ही बहुत उदार और साधु-वृत्ति वाला था। सं० १५४५ में नानक का विवाह गुरदासपुर के एक खत्री श्री मूलचन्द जी की कन्या से हुआ। इस कन्या का नाम सुलक्षणी था। सुलक्षणी से श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द दो पुत्रों का जन्म हुआ। इन्हीं श्रीचन्द जी ने आगे चल कर उदासी सम्प्रदाय की स्थापना की।

बाल्यकाल से ही नानक की प्रवृत्ति सान्सारिक व्यवहारों में न थी। इसीलिए उनके पिता को उन्हें किसी उद्योग में लगाने के अन्दर सफलता न मिली। व्यवसाय करने के लिए उन्हें एक बार कुछ पूंजी दी भी तो वह सब इन्होंने गरीब साधु-सन्तों में लुटा दी।

कबीर के समान ही नानक ने भी मध्य मार्ग ही ग्रहण किया और निर्गुण-विचारधारा को अपनाकर ऐसा मत प्रचारित किया कि जो हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को ही मान्य हो। नानक ने घरबार छोड़ कर दूर दूर तक देशाटन किया और उपासना के क्षेत्र में सामान्य स्वरूप को ही अपनाया। नानक सिख-सम्प्रदाय के आदि गुरु हैं। कबीर की भाँति यह भी भाषा के आचार्य नहीं थे और न ही शास्त्रों-विषयक इनका ज्ञान पूर्ण था। यह तो संत भक्त थे जिन्होंने मस्ती में आकर जन-हित की भावना से जो कुछ भी कहा है वह सिख सम्प्रदाय का धर्म-ग्रन्थ बन गया यही है 'ग्रन्थ साहब'। ग्रन्थ साहब के भजन पंजाबी और देश की अन्य भाषाओं में हैं। हिन्दी का प्रयोग काव्य-भाषा ब्रज और खड़ी दोनों में ही हुआ है। पंजाबी का रूप तो कहीं पर भी झलक आता है। भाषा को पंजाबी से मुक्त रखना नानक के लिए कठिन था। नानक ने विनय और भक्ति के सीधे सच्चे भावों को सीधे सच्चे रूप में प्रकट किया है। कबीर की उलटवाँसियाँ और टेढ़े-मेढ़े प्रयोग हमें

दादू की बानी में अधिकांश दोहे ही हैं, कबीर की साखी की भाँति कहीं-कहीं कुछ पद भी कहे हैं। प्रधान भाषा मिली जुली हिन्दी है और उसमें राजस्थानी की कहीं-कहीं पर शब्दावली आजाती है। गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी में भी दादूदयाल ने कुछ पद कहे हैं। दादूदयाल की भाषा में पूरबीपन नहीं मिलता। अरबी और फारसी के शब्दों का इनकी वाणी पर भारी प्रभाव है। दादू दयाल पर सूफी प्रभाव भी कम नहीं मालूम देता। इसी लिए इनकी वाणी में प्रेम तत्त्व की व्यञ्जना बहुत सुन्दर और मार्मिक बन पड़ी है। प्रेम-भावना को दादूदयाल ने बहुत ही सरसता और गम्भीरता के साथ अपनी बानी में निभाया है। दूसरों को अप्रिय लगने वाला खण्डन दादूदयाल को प्रिय नहीं था। निर्गुण-पंथ की जिन विचार-धाराओं का हम ऊपर चित्रण कर चुके हैं उनका सुन्दर समावेश हमें दादूदयाल की बानी में देखने को मिलता है। गुरु, सुमिरन, बिरह, भक्ति और लव, चितावनी, दुविधा, बेहद, समरथ, विनय, विश्वास, विचार, मौन, पतिव्रता इत्यादि दादूदयाल की बानी के वही विषय हैं जो कबीर ने अपनाये थे। एक बानगी इनकी कविता की भी देखिए—

जब विरहा आया दरद सौं, तब कड़वे लागे काम।
काया लागी काल है, मीठा लागा नाम॥
जे कबहूं विरहिनि मरै, तो सुरति विरहिनि होई।
दादू पिव - पिव जीवताँ, मुवा भी टेरे सोइ॥
मीयाँ मैंडा आव घर, वाँढी वत्ताँ लोइ।
दुखड़े मुँहड़े गये मराँ विछोहे रोइ॥

—(हिन्दी के कवि और काव्य—भाग २-पृ० ८२)

विरह की कसक देखिए—जायसी को भी पीछे उठाकर रख दिया है।

सुन्दरदास—जयपुर राज्य में द्यौसा नामक स्थान पर संवत् १६५३ में संत सुन्दरदास का जन्म हुआ था। सुन्दरदास जाति के बनिये थे। इनकी माता का नाम सती और पिता का नाम परमानन्द था। दादूदयाल द्यौसा में गये तो सुन्दर दासजी उनसे बहुत प्रभावित हुए। उस समय सुन्दरदास जी की आयु केवल छै वर्ष की थी। तभी से यह दादूदयाल जी के साथ ही रहने लगे। संवत् १६६० में दादूदयाल जी के देहान्त पर यह द्यौसा आये। इनके साथ इनके मित्र जगजीवन भी थे। फिर यह जगजीवन जी के साथ काशी चले गये। वहाँ तीस वर्ष तक इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। यह संस्कृत और फ़ारसी के विद्वान् थे। काशी से लौट कर यह राजपूताने में फतहपुर (शेखावाटी) नामक स्थान पर पहुँचे और वहाँ इन्होंने रहना प्रारम्भ कर दिया। वहाँ के नवाब अलिफखाँ ने इनका बड़ा सम्मान किया। सुन्दरदास जी की मृत्यु साँगानेर में कार्तिक शुक्ल ८ संवत् १७४६

> तुक-भंग छंद-भंग, अरथ मिले न कछु।
> सुन्दर कहत ऐसी, वाणी नहीं कहिये ॥
>
> —(हिन्दी के कवि और काव्य—भाग दो—पृ० ११३)

उक्त कवियों के अतिरिक्त इस परम्परा में अन्य भी बहुत से संत कवियों ने रचनाएँ की हैं और संत साहित्य के भंडार को भरा है। इन संत कवियों में धनी राम, पलटू, भीखा साहिब, चरनदास, मलूकदास, दयाबाई, सहजोबाई, दरिया साहब, गुलाब साहब, यारी साहब, दूलनदास, गरीबदास, सदना इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी की रचनाएँ कबीरदास जी के ही समान प्रायः कुछ कम अधिक विषयों पर मिलती हैं। संत साहित्य जिस भाषा में लिखा गया है वह प्रधानतया जनता की अपनी बोली जाने वाली भाषा रही है, उसमें साहित्यिक सौंदर्य बहुत कम मिलता है। वास्तव में इस धारा के कवियों ने जो रचनाएँ की हैं वह साहित्यिक होने के नाते नहीं कीं, बल्कि अपने विचारों को जनता तक पहुँचाने के लिए ही की हैं। इन सभी कविताओं में कबीर की रहस्य-वादी प्रणाली को पानी देने का प्रयास किया गया है। यह इस धारा के लेखकों की एक शैली सी बन गई थी। इसका यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिए कि कबीर को ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया तो अन्य सभी इस प्रणाली की रचनाएँ लिखने वालों को भी ब्रह्म ने आकर दर्शन दिये होंगे और तभी उन्होंने इस प्रकार की रचनाएँ कीं परन्तु हाँ इतना तो सत्य ही है कि इस धारा के द्वारा सभी संतों में कुछ न कुछ चमत्कार अवश्य था जो आज भी किंवदंतियों के रूप में उनकी गद्दियों के इर्द गिर्द प्रचलित है।

कबीर-साहित्य ने एक परम्परा हिन्दी साहित्य को प्रदान की कि जिसके आधार पर अनेक इतने संतों ने अपनी वाणी का प्रसार किया और भारतीय जनता के बीच मिथ्याडम्बर के विरुद्ध क्रान्ति को जन्म दिया। कबीर की यह देन भारतीय जनता और साहित्य दोनों क्षेत्रों में सम्मान का विषय है। कबीर की विचार-धारा कबीर के साथ ही समाप्त नहीं हुई बल्कि उनके बाद देश के विभिन्न भागों में हुए कुछ महात्माओं के साथ एक लम्बे युग तक चलती ही गई। उन विभिन्न संतों ने बाद में यद्यपि अपने-अपने नाम के पंथ चलाये परन्तु जिन सिद्धान्तों पर वे पंथ आधारित किये गये वह कबीर की निर्गुण-धारा के ही मूल तत्व थे।

इस प्रकार कबीर द्वारा निर्धारित विचार-धारा की एक शृङ्खला बन गई, परम्परा बन गई और उसने अपना व्यापक विस्तार प्रदेश और काल की सीमाओं का उल्लंघन करके भारत के भू-भाग पर किया, भारत की जनता के हृदयों में किया और हिन्दी साहित्य में उस युग की मूल भावना बन कर साहित्य की अमर सम्पत्ति बन गया।

अध्याय ११

परिशिष्ट १

कबीर की कविता

'कबीर की रचनाओं में साहित्यिक अभिव्यक्ति' शीर्षक के अन्तर्गत हम पीछे कबीर की कविता के गुणों का अध्ययन कर चुके हैं और बुद्धि, भावना, कल्पना, काव्य-शैली, रस प्रवाह, छन्द, अलंकारिक सौन्दर्य, काव्य गुण सौन्दर्य इत्यादि की कसौटी पर कसकर देख लिया है। कबीर की कविता के विषय में श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव लिखते हैं –"कबीर की कविता ताजमहल की इमारत के सामान नहीं है जिसे कला और ऐश्वर्य की सर्वोत्तम कृति बनाने में कोई बात उठा नहीं रखी गई। वह उस विहारोद्यान की भांति भी नहीं जिसमें एक क्षुप अत्यन्त सुकुमारता और सावधानी से चुनकर यथास्थान बैठाया गया है और घास और झाड़ियों तक की कटाई छँटाई में हाथ का अद्भुत कौशल दिखाया गया है। न वह उस सुन्दर सरोवर के सदृश्य है जिसके चारों ओर मनोहर घाट बने हैं, तट पर रम्य-वाटिका शोभित है और जल में विकसित कमलश्रेणी। वह तो उस पर्वतीय दुर्ग के समान है जिसमें नुकीले, छोटे बड़े, सभी तरह के पत्थर बिना बहुत नाप जोख या रगड़ के बैठाए हुए दिखलाई देते हैं वह उसवन के सदृश्य है जिसमें यदि सघन सफल वृक्षावलियाँ और पुष्पित लता कुञ्ज हैं तो पुराने ठूंठ और कँटीली झाड़ियों का भी अभाव नहीं। अथवा वह उस गिरि-निर्झर की भांति है जिसके ध्वनि-स्पर्द में शिखर-सेतना की तथा जिसकी तरलता में भी शिला-भंजन की अप्रतिहत शक्ति विद्यमान है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उसमें सौन्दर्य और सरसता का अभाव है। यदि ताजमहल सुन्दर है तो अनगढ़ पत्थरों वाले दिगंतदर्शी पर्वत-दुर्ग की भी अपनी विशिष्ट भव्यता है; यदि पुष्पोद्यान मनोहर है तो ठूंठ और कँटीली झाड़ियों वाले बीहड़वन की भी अपनी अद्भुत् मोहकता और शक्ति है।

कबीर की कविता में काट-छाँट, सँवार-सिंगार और प्रदर्शन का प्रयत्न एक दम नहीं है, परन्तु उसमें उच्चकोटि के काव्य का प्रभाव और आकर्षण विद्यमान

है। उसमें साहित्य-शिक्षा और काव्य-कला की चतुराई प्रकट नहीं होती; परन्तु उसकी स्वाभाविक सरलता ही उसमें शिशुता की स्निग्ध मधुरता और तारुण्य का पवित्र तेज भरकर श्रेष्ठ काव्यों की श्रेणी में उसे अनन्त आसन प्रदान करती है।

कबीर की कविता में एक ताजगी है, बासीपन नहीं, यह इसकी महान विशेषता है। उसने जो कुछ भी कहा है उसमें नयापन है, पुरानी बातों को रगड़ना उसने नहीं सीखा।

कबीर के आध्यात्मिक विषयों के बारे हम पीछे विचार कर चुके हैं। यह सब समझ लेने के पश्चात् इस बात के कहने की यहां आवश्यकता तो नहीं रह जाती कि यहाँ पृथक से कबीर की कविता के विषयों पर कुछ लिखें परन्तु फिर भी विषय के पृथक स्पष्टीकरण के लिए यहाँ संक्षेप में दे देना आवश्यक समझते हैं।

कबीर की कविता का अध्ययन करने से पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि कविता कबीर का लक्ष्य नहीं था। इसी लिए कबीर की कविता का क्षेत्र भी व्यापक नहीं बन सका और वह केवल उनकी विचार-धारा के इर्द-गिर्द ही घूमकर रह गया। अनन्तरूपात्मक जगत् में फँसना और फिर उसकी अनन्तता को आलम्बन मानकर अपनी कविता के क्षेत्र को व्यापक बनाना, यह कबीर के जीवन का लक्ष्य नहीं था, प्रकृति की विविध सुन्दर, कलात्मक और जानदार चीजों में भी भगवान् की अनुपम छटा को निरखने का कबीर ने प्रयत्न नहीं किया। प्रकृति के व्यापक क्षेत्र में कबीर मानो घुसे ही नहीं। वैष्णव भक्त कवि तुलसी और सूर के लिए भी उनकी कविता का प्रधान विषय बहिर जगत् न होकर ब्रह्म ही रहा है परन्तु क्योंकि उनका भगवान् निर्गुण नहीं था सगुण था और वह जगत् में विहार करता था तो उनके लिए जगत् का सौंदर्य भी एक महत्व रखता था और उन्होंने जगत् के व्यापक क्षेत्रों से चुन-चुन कर ऐसे विषयों को उठा लिया है कि जिनमें हृदय की वृत्तियाँ रमती हैं।

मैया मेरी मैं नहि माखन खायौ

भोर भयो गैयन के पीछे मधुबन मोहि पठायौ।
चार पहर बंसीवट भटक्यौ, साँझ परे घर आयौ॥
मैं बालक बहियन को छोटौ, छींकौ किहि विधि पायौ।
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बर बस मुख लपटायौ॥
तू जननी मन की अति भोरी, इनके कहे पतियायौ।
जिय तेरे कछु भेद उपजि है, जानि परायौ जायौ॥
यह लै अपनी लकुत-कमरिया, बहुतहिं नाच नचायौ।
'सूरदास' तब बिहँसि जसोदा, लै उर कंठ लगायौ॥

—(अष्टछाप के कवि—पृ० ११२)

बालक्रीड़ा का यह लोकप्रिय कबीर की कविता में मिलना कठिन है क्योंकि इस ओर तो कबीर की प्रवृत्ति आकृष्ट ही नहीं हो सकती थी। उसका निर्गुण ब्रह्म तो घट-घट का वासी है; वह भला माखन चुराने गोकुल में क्यों आयगा! उसके लिए न तो गोकुल का ही कुछ महत्त्व है और न पञ्चवटी का ही—

> इसी समय पौ फटी पूर्व में।
> पलटा प्रकृति पटी का रंग;
> किरण-कंटकों से श्यामाम्बर
> फटा, दिवा के दमके अंग।
> कुछ-कुछ अरुण सुनहली कुछ-कुछ
> प्राची की अब भूषा थी;
> पंचवटी का द्वार खोल कर
> खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी?
>
> —(पंचवटी—पृ० ३८ पद ६३)

प्रकृति के साथ इस प्रकार सीता देवी का एकीकरण कर देना कबीर की प्रवृत्ति नहीं थी। कबीर ने तो जो कुछ भी कहा है वह स्पष्ट ही कहा है और जो कुछ उसने स्पष्ट कहा है उसमें भी कलात्मकता है— क्योंकि स्पष्ट कहना काव्य की मैं सबसे बड़ी कला मानता हूँ।

कबीर की यह स्पष्टवादिता और भी निखर जाती यदि वह अपनी कविता का क्षेत्र कुछ व्यापक कर पाते परन्तु इस ओर तो कभी उनका सम्भवतः ध्यान ही नहीं गया होगा। कविता उनके सामने सर्वदा ही माध्यम के रूप में आई और इसीलिए इस में निखार लाने की प्रवृत्ति भी हम कबीर में नहीं पाते। श्रीवास्तव जी का ऊपर दिया हुआ उदाहरण हमारे इसी विचार की पुष्टि करता है।

कविता का विषय

कबीर की कविता का क्षेत्र उनकी धार्मिक प्रवृत्तियों से पृथक नहीं हो सकता था। निर्गुण-भक्ति और अंतर्मुखी साधना का प्रधान विचारक काव्य के लौकिक पक्ष की ओर दृष्टि डाल ही नहीं सकता था; इसीलिए तो उसके काव्य का क्षेत्र इतना संकीर्ण रह गया। कबीर की कविता के प्रधान विषय संसार की असारता, माया का प्रपंच, शरीर की अनित्यता, विरक्ति, ब्रह्म-मिलन की व्याकुलता, भगवान् के साक्षात्कार की प्रसन्नता, आत्मा और परमात्मा में विलीनता, आचरण की सभ्यता, आडम्बरों का खण्डन इत्यादि ही रहे हैं। इन्हीं विषयों के अन्तर्गत इन्द्रियों की लालसा की निन्दा, काम क्रोधादि विकारों की निन्दा, माया की निन्दा असाधुओं की निन्दा तथा गुरु की महिमा, साधुओं का गुणगान, जीव पर दया,

सदाचारों की प्रशंसा, सत्य गुणगान इत्यादि भी आजाते हैं। खंडन के क्षेत्र में सन्त अवधूत, पांडे, मुल्ला इत्यादि के जप, तप, तीर्थ, पूजा निमाज, रोजा इत्यादि की भी कबीर ने खूब खबर ली है। उपदेश, योग और वैराग्य के पद भी कबीर की वाणी में नहीं मिलते।

इन सभी विषयों में कबीर ने जो रचना भक्ति-भावना से प्रेरित होकर की थी और उसमें भी विशेष रूप से विरह का जो वर्णन किया वह बहुत ही मार्मिक बन पड़ा है और काव्य के सभी गुण उसमें वर्त्तमान हैं। उनमें से एक-एक पद ऐसा है कि जो भावुक साहित्य-प्रेमी के हृदय पर गहरी चोट करता है और उसमें अपने भावों के साथ पाठक को बहा लेजाने की सभी क्षमता विद्यमान है।

इस प्रकार कबीर का कविता-क्षेत्र सीमित होने पर भी आत्मा के उस तत्त्व को लेकर चलता है जो जीवन की अमूल्य निधि है और जिसका जीवन की आत्मिक शान्ति से सीधा सम्बन्ध है। रस का उसमें से कभी न सूखने वाला श्रोत प्रवाहित होता है और होता ही रहेगा।

की रचना को समझने का प्रयास करे तो उसे विशेष कठिनाई नहीं होगी। रमैनियाँ तो प्रबन्धात्मक हैं ही, इसलिए उनका अर्थ लगाना भी कठिन नहीं है। पद्यों में कबीर ने विषय पर या तो पद्य के आरम्भ में ही जोर दे दिया है या उसके अन्त में उसे स्पष्ट कर दिया है। जिन पद्यों में आदि और अन्त कहीं पर भी जोर नहीं है ऐसे पद्य बहुत कम हैं और जो हैं भी उनमें भी कहीं-न-कहीं से विषय की झलक आ ही जाती है। पाठक को सोच-विचार कर पढ़ने में अधिक कठिनाई नहीं होगी।

कबीर की साखियों का विषय खोजने में पाठक को कुछ कठिनाई होती है क्योंकि वहाँ कवि ने कोई स्पष्ट संकेत नहीं किया। परन्तु पाठक यदि साखी को पढ़कर उसके अङ्गों को ठीक से सम्बद्ध कर लेगा तो उसे अर्थ-ग्रहण करने में विशेष कठिनाई नहीं होगी और अभीष्ट अर्थ स्पष्ट हो जायगा। वाक्यार्थान्वय द्वारा पद्य का स्पष्ट अर्थ समझने में कठिनाई नहीं होगी।

उलटवांसियाँ हिन्दी में कबीर द्वारा ही प्रचलन में आई परन्तु कबीर से पूर्व नाथ पन्थी योगी और सहजायानी सिद्धों ने भी इस प्रणाली को अपनाया था। कबीर जैसी उलटवाँसियों के पद गोरखनाथ के भी मिलते हैं।

कबीर ने अपनी उलटवांसियों में जिस प्रकार की उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं उस प्रकार की उक्तियाँ उपनिषदों में भी मिलती हैं और यह भी सम्भव है कि यदि इस परम्परा को वैदिक साहित्य तक लेजाने का प्रयास किया जाय तो यह प्राचीन तंत्रादि के ग्रन्थों तक पहुँच जाय।

कबीर की उलटवांसियों को समझने के लिए उनकी भाषा की संधियों को समझ लेना नितान्त आवश्यक है और संधि को समझने के लिए विषय तथा शब्द-ज्ञान की आवश्यकता है। यह तभी सम्भव है जब पाठक को कबीर की साधना का भी समान्य ज्ञान हो।

शब्दार्थ-बोध

जिस प्रकार पद्य का प्रस्तुत अर्थ वाक्यार्थों के अन्वय से प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार शब्दार्थ-बोध से वाक्य का अर्थ निकलता है। वाक्यार्थ का सही ज्ञान करने के लिए वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ प्रयोग पाठक को सही-सही ज्ञात होना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार पद्य का सही अर्थ लगाने के लिए पहले शब्दार्थ, फिर शब्द-प्रयोग, फिर वाक्यर्थ और उसके भी बाद वाक्यार्थान्वय की आवश्यकता होती है। इस क्रम से किसी भी कविता का अध्ययन बहुत ही सुगमता से किया जा सकता है। कबीर की कविता इस नियम से बाहर की कोई विशेष वस्तु नहीं है।

कवियों की शब्द विशेषों को प्रयोग करने की कुछ विशेष शैलियाँ भी होती

हैं । किसी कवि-विशेष की रचनाओं का अध्ययन करने से पूर्व उसकी इन शैलियों पर अधिक ध्यान दे लेने से अर्थ-ग्रहण में सुगमता होती है ।

कबीर की उलटवाँसियों में अनेकों पद ऐसे हैं कि जिनका अर्थ सामान्य पद्धति से नहीं लगाया जा सकता । साधारण शब्द कोश, व्याकरण और अर्थ ग्रहण करने के साधनों की सहायता उनके अभीष्ट अर्थ प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं । "धरती के बरसने से अम्बर का भीगना (ग्र० प० १६२), समुद्र में आग लगना और नदियों का जलकर कोयला हो जाना (बानी, सा० ४।१०), मृतक का हाथ में धनुष लेकर खड़ा होना (ग्र० प० ६) इत्यादि अनेक असम्भव और विरुद्ध प्रतीत होने वाली बातों का ऐसे सामान्य रूप में उल्लेख पाया जाता है मानो ये कबीर की स्वाभाविक भाषा का अङ्ग रही हों और इनमें उन्हें कुछ भी प्रयत्न न करना पड़ा हो । परन्तु इनको पढ़ या सुनकर साधारण पाठक या श्रोता की तो यह स्थिति हो जाती है, कि या तो वह भौचक्का होकर अर्थहीन शून्यावलोकन करने लगता है, अथवा कबीर को असंगत-वक्ता समझकर उधर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझता ।"

—(कबीर साहित्य का अध्ययन—पृ० २४७-२४८)

इस प्रकार की कबीर की कविता को केवल भाषा-ज्ञान से ही नहीं समझा जा सकता । इनको समझने के लिए उनके कुछ वाक्य विशेषों और उनके कुछ प्रयोग विशेषों को जान लेने की आवश्यकता है । कबीर के सिद्धान्त विशेषों के विषय में हम विस्तार के साथ पीछे अध्ययन कर चुके हैं ।

कबीर की वाणी में हम जिन शब्दों का प्रयोग देखते हैं, और विशेष रूप से उलटवाँसियों में जहाँ 'सिंह गाय को चराता है' और 'मुर्गा बिल्ली खाता है', उनका सीधा अभिधात्मक अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता । साधारण कोष में मिलने वाले अर्थ से तो उन पद्यों को समझना असम्भव ही है । उनके लिए तो साम्प्रदायिक कोष का अध्ययन आवश्यक हो जाता है ।

साम्प्रदायिक शब्द प्रयोगों के नाते ही कबीर की वाणी को समझा जा सकता है । परन्तु यहाँ भी एक कठिनाई सामने आती है और वह यह कि एक तो यह अर्थ लोक-प्रसिद्ध नहीं है और दूसरे वह सम्प्रदायों में भी एक ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं होते । अभिधा द्वारा कबीर के पद्यों का अर्थ लगाने में कठिनाई ही होती है और वहाँ पर लक्षणा का ही आश्रय ग्रहण करना होता है । इसलिए कबीर के पद्यों का अध्ययन करते समय पहले वाच्यार्थ खोजने का प्रयत्न करना चाहिए, और यदि वह अभीष्ट अर्थ तक पहुँचाने में असमर्थ हो तो लक्षणा का आश्रय लेकर अर्थ ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए परन्तु वह लक्षणा भी कबीर की साधना-पद्धति के अनुकूल ही होना आवश्यक है ।

अध्याय १३

परिशिष्ट—३

शब्दार्थ

कुछ विशेष शब्दों के अर्थ

अजपाजप—यह जप की वह अवस्था है जिसमें माला, होंठ, जीभ आदि की क्रिया न हो। यह जप की चरमावस्था है जिसका सम्बन्ध केवल मन से है।

अविहड़—परमात्मा से अविच्छेद्य होना। तादात्म्य हो जाना।

चाणक—नीति; चातुर्य।

उगा—जलना; पचना। मनोवृत्तियों का दमन; मन की उत्सुकता और अशान्ति का शमन करना।

ज्ञान चौंतीसा—ॐ तथा क, ख, ग, घ, ङ; च, छ, ज, झ, ञ; ट, ठ, ड, ढ, ण; त, थ, द, ध, न; प, फ, ब, भ, म; य, र, ल, व, श, ष, स, ह,—इन चौंतीस अक्षरों से आरंभ करके कही हुई ज्ञान-उक्तियाँ।

परचा—[illegible], परिचय; आत्मस्वरूप का ज्ञान; परमात्मा का साक्षात्कार।

पारिख—परख।

बिरहुली—[illegible] का एक प्रकार का राग या गीत। मूल रूप में सर्प का विष उतारने को गाया जानेवाला गीत। (बिरहुल = एक सर्पों के देवता का नाम)

बीजक—किसी धन का ठीक-ठीक पता या ब्यौरा देने वाला पत्र। कबीर की बानियों का एक प्रामाणिक संग्रह।

बेली—[illegible], बेल, लता। माया, त्रिगुण या विषय-वासना रूपी बेल; [illegible]

सन्धि—मध्य, बीच। द्वन्द्व के बीच; सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, हिंदू-मुसलमान आदि [illegible] से मुक्त।

साखी—साक्षात्कार से [illegible] कही हुई कबीर आदि सन्तों की वाणी। दोहे-

चौपाइयों के बन्ध की यह परम्परा मानस से बहुत पुरानी है, परन्तु, इसका रमैनी नाम, शायद रामायण के ही आधार पर पड़ा है।

लांवि—लम्बाई; गहराई, थाह; इयत्ता। ब्रह्म स्वरूप की अनन्तता या अगम्यता।

लै—लय: स्थूल का सूक्ष्म में, व्यक्त का अव्यक्त में, ध्याता का ध्येय में मिलकर एक हो जाना।

विप्रमतीसी—विप्रमतीसी; बीजक मे ब्राह्मणों के कर्मों की आलोचना जो तीस चौपाइयों और एक दोहे ३२ पंक्तियों में, है।

सहज—राम के मिलने का सहज उपाय; हठयोगी क्रियाओं से मुक्त योग।

सहज समाधि—ब्रह्म के साक्षात्कार की अवस्था; मुक्तावस्था; पूर्ण आनन्द स्वरूप में लय।

साखी—साक्ष्य। साक्षात्कार। सन्तों की अनुभवपूर्ण वाणी, यह प्रायः दोहों में कही गई है।

साखीभूत—वह (सन्त) जिसे साक्षात्कार हुआ है।

सुरति-निरति—सुरति = श्रुति, शब्द, वाक्। श्रवण (सुनने) की वृत्ति अन्तर्नाद-श्रवण। ध्यान, लगन। वृत्ति, वासना।

कुछ साधारण शब्दों के अर्थ

शब्दार्थ से आगे की संख्या 'बानी' के उस पद की है जिसमे वह शब्द प्रयुक्त हुआ है —

अंकुर—अहंकार ७; बड़ा ज्ञान १५०।

अंगना—हृदय २०७।

अंबर—अंतःकरण १६२; आत्मा १६२, २८०।

अकास—आकाश, अंतःकरण १५७, १६२; ऊँची दशा १२, १७७; आत्मा, आतमस्थान, परमात्मा की दिशा ६६, ३२८, ३२६।

अगनि (अग्नि)—विरह या ज्ञानविरह की ज्वाला ११२; ब्रह्म की ज्वाला ७, ६६; ७१, ७४, १५५, १६०, २०४।

अग्र की धरी—सुबुद्धि २२६।

अमृत—ज्ञान, ब्रह्म का नाम ५, परमात्मा १८, १५२, १६२; रामरस १७४, २०४।

अमृतफल—ब्रह्म-दर्शन ७२।

आगनि (आँगन में)— हृदय में १७७।

आन वहू—अनभौ (अनुभव) १३।